शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

नवम्बर : १९६३ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, आश्विन द्वितीय, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ७

चारित्र

'पापरूप क्रियाओं की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। घातिकर्म पाप हैं; मिथ्यात्व, असंयम और कषाय पाप की क्रियाएँ हैं। उन पाप क्रियाओं के अभाव को चारित्र कहते हैं।'

[श्री धवला टीका का ग्रंथ ६, पृष्ठ ४०]

विशेष:—पापरूप क्रियाओं में शुभ और अशुभ दोनों भाव आ जाते हैं। शुभ और अशुभ दोनों भावों से घातियाकर्म का बंध होता है, और घातियाकर्म पाप हैं, इसलिये शुभाशुभभाव भी पाप हैं।

यहाँ पाप क्रियाओं में मिथ्यात्व का स्थान सर्वप्रथम बताया है, क्योंकि जगत के सर्व पापों में सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व ही है। सर्वप्रथम उस पाप को दूर करने के बाद ही असंयमादि दूर होते हैं।

जिस भाव से आत्म-गुणों की शक्ति का घात होता है, वे भाव पाप हैं। शुभभाव से भी आत्म-गुण का घात होता है, इसलिये शुभभाव भी पाप क्रिया ही हैं। उस पाप क्रिया के अर्थात् शुभाशुभभावों के अभाव को चारित्र कहते हैं। दृष्टि की प्रतीति के साथ जितने अंश में शुभाशुभ का अभाव हो, उतना चारित्र है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२२२]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी)

(तीसरी आवृत्ति)

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांतपूर्वक नयार्थ भी दिये हैं, और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र संख्या ९०० करीब, मूल्य लागत मात्र ५), पोस्टेज आदि अलग।

लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका

(चतुर्थ आवृत्ति)

१८०००, बुक छप चुकी हैं, बिक चुकी हैं, समाज में धर्म जिज्ञासा का यह नाप है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये यह उत्तम मार्गदर्शक प्रवेशिका है। जैन जैनेतर सभी जिज्ञासुओं में नि:संकोच बांटने योग्य है। इंगलिश भाषा में भी अनुवाद कराने योग्य है। जिसमें अत्यंत स्पष्ट सुगम शैली से मूलभूत अति आवश्यकीय बातों का ज्ञान कराया गया है। बढ़िया कागज, छपाई, सुंदर आकार, पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य सिर्फ २५ नये पैसे, पोस्टेजादि अलग।

पता—**श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

नवम्बर : १९६३ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, आश्विन द्वितीय, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ७

ज्ञानी के सर्व भाव ज्ञानमय

और

अज्ञानी के अज्ञानमय

[समयसार गाथा १२८ से १३१ तक के प्रवचन से]

जिसने ज्ञान और राग का भेदज्ञान किया है, ऐसे ज्ञानी के सर्वभाव ज्ञानमय होते हैं; तथा जिसे राग के साथ एकत्वबुद्धि है, ऐसे अज्ञानी के सर्वभाव अज्ञानमय ही होते हैं।

शिष्य पूछता है कि—ज्ञानी के सर्वभाव ज्ञानमय और अज्ञानी के सर्वभाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं ? उसके उत्तर में आचार्यदेव दो गाथायें कहते हैं:—

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायए भावो।
जम्हा जम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स॥१२९॥
ज्यों ज्ञानमय को भाव में से, ज्ञान भावहि उपजते।
यों नियतज्ञानी जीव के सब भाव ज्ञानमयी बनें॥१२८॥
अज्ञानमय को भाव से, अज्ञान भाव ही उपजे।
इस हेतु से अज्ञानि के, अज्ञानमय भाव ही बने॥१२९॥

कारण सदृश काय होता है, इसलिये जिसके मूल में अज्ञान है, उसके सर्वभाव अज्ञानमय ही होते हैं। अज्ञानी का शुद्ध चिदानंदमूर्ति आत्मा में प्रवेश ही नहीं है, राग के कर्तृत्वरूप ही उसके

सर्व परिणाम होते हैं, इसलिये उसके कोई परिणाम अज्ञान का उल्लंघन नहीं करते। शास्त्रज्ञान हो या व्रत-तप के परिणाम हों; वे सब अज्ञानभावमय ही हैं। शास्त्र पढ़ते समय भी उसकी बुद्धि में विकल्प का अवलंबन पड़ा है; इसलिये उसके भाव पराश्रयबुद्धि का उल्लंघन नहीं करते।

और जिसने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को राग से भिन्न अनुभव किया है, इसलिये जिसकी पर्याय में चैतन्य भगवान व्याप्त हो गया है—ऐसे धर्मी ज्ञानी जीव को भेदज्ञान की भूमिका में जो भी परिणाम होते हैं, वे सब ज्ञानमय ही हैं। कारण सदृश कार्य होता है। ज्ञानी के सर्वभाव भेदज्ञानपूर्वक होते हैं, कहीं भी राग के साथ ज्ञान की एकता उनके नहीं होती; राग से भिन्न ज्ञानमय भावरूप ही वे परिणमित होते हैं। कभी अशुभपरिणाम हों, तब भी ज्ञानी उस अशुभ में तन्मयरूप से परिणमित नहीं होता, किंतु ज्ञान में तन्मयतारूप ही परिणमन करता है; इसलिये ज्ञानी के सर्वभाव ज्ञानमय ही हैं। ज्ञानी का कोई भाव ज्ञानमयपने को नहीं छोड़ता। ज्ञान थोड़ा हो या अधिक, किंतु अंतर्मुखरूप से उसके सर्वभाव ज्ञानमय ही हैं। सहजस्वरूप चैतन्य के स्वामित्वरूप से परिणमन करते हुए सर्वभाव चैतन्यमय ही होते हैं।

शुभरागरूप व्यवहार करते-करते आत्महितरूप धर्म मानता है, वह मिथ्यात्वरूप महापाप में पड़ा है। जो राग के स्वामित्वरूप से परिणमित हो, उसके सर्वभाव रागमय—अज्ञानमय होते हैं; और जो चैतन्य के स्वामित्वरूप से परिणमित हो, उसके सर्वभाव चैतन्यमय-ज्ञानमय होते हैं। देखो तो सही, दृष्टि का बल!! जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि; ज्ञानी ने उदयभावों को प्रज्ञाछैनी द्वारा ज्ञान से भिन्न कर डाला है। सदैव... सोते-जागते, निर्विकल्पता या विकल्प के समय वे ज्ञान में ही तन्मयरूप से परिणमित होते हैं और राग को चैतन्य से पृथक् का पृथक् ही रखते हैं।—ऐसा ज्ञानमय परिणमन उनके सदैव वर्तता ही रहता है।

अरे जीव! तू दृष्टि की और भेदज्ञान की महत्ता समझ! अज्ञानी अंतर में गुण-गुणीभेद से आत्मा का चिंतन करता हो, तो उसे ऐसा लगता है कि मैं आत्मा का निर्विकल्प ध्यान कर रहा हूँ; किंतु अंतर में तो भेद के सूक्ष्मविकल्प के साथ उसे एकताबुद्धि विद्यमान है। मानों इस विकल्प द्वारा अभेद का निर्विकल्प अनुभव होगा—ऐसी बुद्धि से वह विकल्प में ही अटका है, इसलिये ध्यान के समय भी उसके भाव अज्ञानमय ही होते हैं। और ज्ञानी को कभी आर्त्तध्यान जैसा परिणाम आ जाये तो भी भीतर ज्ञान को विकल्प से भी भिन्न अनुभव करता है, आर्तध्यान के परिणाम से ज्ञान को भिन्न ही जानता है। चिदानन्दतत्त्व राग से पार है, यह बात श्रद्धान में से छूटती नहीं; भेदज्ञान एकक्षण भी

छूटता नहीं, इसलिये श्रद्धा और भेदज्ञान के बल से उसके सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं। देखो, ज्ञानी और अज्ञानी के परिणामों की जाति ही भिन्न है। अज्ञानी का शास्त्रज्ञान कैसा है?—कि अज्ञानमय। अज्ञानी को कदाचित् विभंग अवधिज्ञान हो तो वह भी अज्ञानमय; अज्ञानी व्रत करे तो वह भी अज्ञानमय; अज्ञानी की सामायिक और तप भी अज्ञानमय; अज्ञानी की पूजा-भक्ति भी मोह का भजनरूप अज्ञानमय भाव है—इसप्रकार अज्ञानी के सर्व परिणाम अज्ञानमय ही होते हैं; उसके सर्वत्र राग की कर्तृत्वबुद्धि ही विद्यमान है... विष के प्रवाह में तो विष ही आयेगा, उसमें अमृत नहीं आ सकता।

और ज्ञानी के सर्व परिणाम ज्ञानमय ही हैं। शास्त्रज्ञान अधिक हो या न हो, अवधि-मन:पर्ययज्ञान हो या न हो, परंतु उसके ज्ञानमय भाव ही हैं। व्रत-तप-दान-यात्रा-वैराग्य-भक्ति-पूजा आदि समस्त भावों के समय उसके ज्ञानमय परिणमन ही वर्त रहा है। मिश्री के प्रवाह में से तो मिठास ही आती है, उसमें कड़वाहट नहीं होती।

ज्ञानी के सर्वभाव ज्ञान से निर्मित हैं और अज्ञानी के सर्वभाव अज्ञान से निर्मित हैं।

—इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के परिणमन में आकाश-पाताल जितना महान अंतर है। ज्ञानी के ज्ञानमय परिणमन को अज्ञानी पहिचान नहीं सकते। यह ज्ञानी ऐसा राग करते हैं—इसप्रकार अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि से देखता है, किंतु उससमय भी ज्ञानी का आत्मा, राग के अकर्तारूप से चैतन्यभावमय ही परिणमित हो रहा है; अज्ञानी को वह परिणमन दिखायी नहीं देता। अपने में ज्ञान और राग की भिन्नता का भान न होने के कारण वह ज्ञानी के आत्मा में भी ज्ञान और राग की भिन्नता को नहीं देख सकता। **यदि ज्ञानी के परिणमन को यथार्थरूप में जान ले तो अपने को भेदज्ञान हुए बिना न रहे।** राग के कर्तृत्व में रहकर ज्ञानी की सच्ची पहिचान नहीं होती। भाई, ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही होते हैं, क्योंकि उन्होंने चैतन्य के अनुभव में से राग को पृथक् कर दिया है। राग, राग में है और ज्ञानी का आत्मा तो ज्ञानभाव में ही तन्मय है, वह राग में तन्मय नहीं है; इसलिये ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय।

❀ ❀ ❀

यही बात गाथा १३०-१३१ में दृष्टांतपूर्वक समझाते हैं।

जगत के समस्त पदार्थ परिणमन स्वभावी हैं, इसलिये प्रतिक्षण परिणमित होते हैं; तथापि अपनी जाति को छोड़कर अन्य जातिरूप कोई पदार्थ परिणमित नहीं होता। सोना और लोहा दोनों

पुद्गल के परिणाम हैं, तथापि सोने में जितने भाव होंगे, वे सब सुवर्णमय ही होंगे और लोहे में से जो भाव होंगे, वे सब लोहमय ही होंगे। जिसके मूल में कारणरूप से सोना है, उसका कार्य भी सुवर्णरूप ही होगा, लौहरूप नहीं हो सकता; और जिसके मूल में कारणरूप से लोहा है, उसका कार्य भी लोहरूप होगा; उसमें से सोने के आभूषण नहीं बन सकते; क्योंकि कारण के सदृश ही कार्य होता है। (यहाँ कारण-कार्य दोनों पर्यायरूप हैं।) उसीप्रकार अज्ञानी के अज्ञानमय भावों में से जो भी भाव होंगे, वे सब अज्ञानमय ही होंगे। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वे ज्ञानमय परिणाम हैं; उनकी उत्पत्ति ज्ञानी को भेदज्ञानपूर्वक होती है; किंतु अज्ञानी को राग का कर्तृत्व है; उस राग में से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती। कर्ता और कर्म एक ही जाति के-अभिन्न होते हैं; अथवा कारण और कार्य एक ही जाति के अभिन्न होते हैं; अज्ञान कारण और ज्ञान उसका कार्य, अथवा अज्ञानी कर्ता और ज्ञान उसका कर्म—ऐसा कभी नहीं होता। उसीप्रकार ज्ञानी कर्ता और राग उसका कर्म, अथवा ज्ञान कारण और राग उसका कार्य—ऐसा भी नहीं होता।

अहा! ज्ञानी और अज्ञानी की जाति ही भिन्न है, दोनों के कार्य की जाति भी भिन्न है। अज्ञानता पर्याय है; वह कैसी है ?—कि अज्ञानमय है; अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय है; इसलिये उसके सर्वभाव अज्ञान जाति को नहीं छोड़ते, अज्ञानमय ही होते हैं; और ज्ञानी तो स्वयं ज्ञानमय है, इसलिये उसके ज्ञानमयभाव में से सर्वभाव ज्ञानमय ही होते हैं; उनके कोई भाव ज्ञानजाति को नहीं छोड़ते।

ज्ञानी अशुभ के समय भी ज्ञानमयभावरूप परिणमित होते हैं और अज्ञानी शुभ के समय भी अज्ञानमय भावरूप परिणमित होता है।

अहो! इस अंतर को किस दृष्टि से पहिचानेगा! अज्ञानी को स्त्री आदि की ओर का अशुभभाव बदलकर देव-गुरु के अवलंबन का शुभभाव हो, वहाँ वह मानता है कि मेरे भावों की जाति बदल गई; यह शुभभाव मुझे धर्म में सहायक होगा। यहाँ तो कहते हैं कि भाई! तेरे सर्वभाव अज्ञानमय ही हैं, तेरे भावों की जाति नहीं बदली है। भेदज्ञान के बिना परिणाम की जाति नहीं बदलती; राग के अवलंबन से अबंध परिणाम कदापि नहीं होते। अज्ञानी को राग के अवलंबन का अभिप्राय होने से उसके समस्त परिणाम बंधरूप ही हैं, उसे ज्ञानमय-अबंधपरिणाम नहीं होते।

जिसके अभिप्राय में ही ऐसा है कि—मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा कर्ता हूँ और राग मेरा कार्य है, उसके अभिप्राय में ही ज्ञान और राग की एकत्वबुद्धि विद्यमान है; ऐसे अज्ञानमय अभिप्रायपूर्वक

जो भी परिणाम हों, वे सब अज्ञानमय ही होते हैं किंतु ज्ञानमय नहीं होते अर्थात् बंधभाव ही होते हैं, अबंधभाव किंचित् नहीं होता।

इससे विपरीत जिसके ज्ञान और राग का भेदज्ञान वर्तता है, राग के अंश में भी स्वभावबुद्धि नहीं वर्तती और ज्ञानस्वभाव में ही एकत्वबुद्धि वर्तती है, ऐसे ज्ञानी के जितने परिणाम हों, वे सब ज्ञानमय ही होते हैं, अज्ञानमय नहीं होते। ज्ञानी को बंधभाव में कभी एकता नहीं होती; वे राग परिणामों को निजभाव (स्वभावभाव) नहीं मानते, उन्हें अपने स्वभाव से भिन्न ही जानते हैं; इसलिये राग वास्तव में ज्ञानी का कार्य है ही नहीं, किंतु उस राग के समय भी उससे पृथक् रहकर उसे जाननेवाला जो ज्ञान, वही ज्ञानी का कार्य है; वह ज्ञानपरिणाम अबंध है और ज्ञानी उसी में तन्मयरूप से उत्पन्न होते हैं।

शुक्ललेश्या के शुभपरिणाम हों, तथापि ज्ञानी उन परिणामों के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होते; वे परिणाम ज्ञान की जाति के नहीं हैं। अज्ञानी को शुक्ललेश्या के परिणाम हों, उस समय भी वह अज्ञानमय भाव ही करता है, क्योंकि शुक्ललेश्या के जो बंध परिणाम हैं, वह औदयिकभाव हैं, उन्हीं में वह ज्ञान को एकमेक मानता है; किंतु उन बंधपरिणामों से रहित ज्ञान को नहीं जानता। ज्ञानी को आर्त्तध्यान के परिणामों के समय भी अबंध-ज्ञानभावरूप से ही परिणमित होते हैं; आर्त्तध्यान में तन्मय होकर परिणमन नहीं करते, किंतु ज्ञानभाव में ही एकाकार होकर परिणमित होते हैं, इसलिये उनके भाव ज्ञानमय ही हैं। अंतर्मुख के अबंध परिणाम को बहिर्मुख बंध परिणाम के साथ मिलाते नहीं।

प्रश्नः—ज्ञानी को एक समय में थोड़ा आनंद और थोड़ा दुःख—दोनों धारायें एकसाथ ही चलती हैं न?

उत्तरः—वास्तव में तो आनंदरूप ज्ञानभाव का ही ज्ञानी को कर्तृत्व है; जो दुःख या विकार है, वह ज्ञान से भिन्न परिणाम हैं; उनका कर्तृत्व ज्ञानी को नहीं है; इसलिये ज्ञानी के तो ज्ञानमय परिणाम ही हैं।

अहा! ज्ञानी का अंतर परिणमन तो देखो! ज्ञानमय परिणाम ही होते हैं। जिसप्रकार सर्वज्ञ भगवान जगत के रागादि परिणामों के ज्ञाता ही हैं, उसीप्रकार साधक धर्मात्मा भी रागादि परिणामों के ज्ञाता ही हैं;—दोनों के ज्ञातापने में कोई अंतर नहीं है। जो साधक हुआ, वही सर्वज्ञ की पंक्ति में जा बैठा!—अंतर्नेत्रों से देखने पर ही ज्ञानी की प्रतीति हो सकती है।

कभी ज्ञानी के नेत्रों से अश्रुधारा बह रही हो, तब ज्ञानी क्या करते हैं ?—तो कहते हैं कि ज्ञानी उससमय भी ज्ञानमय परिणाम ही करते हैं। जितना ज्ञानमयभाव है, वही ज्ञानी का भाव है, जो राग है, वह ज्ञानी का भाव नहीं है। आस्रवतत्त्व, जीवतत्त्व कैसे होगा ?

अज्ञानी ऊपर से बाह्य चेष्टाओं को देखनेवाले हैं और ज्ञानी अंतरंग दृष्टिसहित परिणामों को देखते हैं। अज्ञानी देखते हैं कि ज्ञानी रोते हैं, हँसते हैं, राग करते हैं; किंतु उसी समय भेदज्ञान के बल से ज्ञानी के अंतर में रागादि से भिन्न ज्ञान की धारा बह रही है, उसे अज्ञानी बाह्यदृष्टि के कारण नहीं देख पाते। जिसप्रकार ज्ञानी वृक्ष, मकान आदि अन्य ज्ञेयों को ज्ञान से भिन्नरूप जानते हैं, उसीप्रकार क्रोधादि को भी अपने ज्ञान से भिन्न ही जानते हैं, उन्हें ज्ञान के साथ एकमेक नहीं करते।—इसप्रकार ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही होते हैं। ऐसे ज्ञानमय भाव की पहिचान होने पर ही भेदज्ञान होता है और भेदज्ञान होने पर मोक्षमार्ग का प्रवाह आरम्भ होता है; उसका नाम धर्म है।

सम्यक्त्व की महिमा कैसी है, अनुभूति क्या वस्तु है, उसकी अज्ञानियों को खबर नहीं होती। लकड़ी हो या व्यवहार के रागादि परिणाम हों, उन दोनों को ज्ञानी परज्ञेयरूप से ही देखते हैं। सम्यक्त्वी छह खंड के चक्रवर्ती राजपाट में स्थित हों, तथापि जगत के एक रजकण का भी स्वामित्व स्वीकार नहीं करते; विकल्पमात्र का स्वामित्व उनके उड़ गया है; और अज्ञानी राजपाट छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनिदशा धारण करके भी अंतर में शुभराग की कर्तृत्वबुद्धि से तीन लोक के परिग्रह के स्वामित्वरूप से परिणमन करता है। ज्ञानी और अज्ञानी की अंतर्दृष्टि का यह महान अंतर है और उसे ज्ञानी ही जानते हैं।—जो ऐसे भेद को जानता है, उसको अपने में अवश्य ही ज्ञान और राग का भेदज्ञान हो जाता है। इसलिये वह आत्मा ज्ञानमय भावरूप ही परिणमित होता है; इसी का नाम धर्म और मोक्षमार्ग है।

आगम चक्षु और द्रव्यस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्धपर्याय को जानने का फल

आगम चक्षु अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप का निश्चय कराता है। स्पष्ट तर्कणासहित अनेकांतमय सर्व पदार्थों की स्वतंत्रता बतानेवाला जिनागम है। उसका तात्पर्य ज्ञायकता की श्रद्धा, सत्य समाधान और वीतरागता है।

[श्री प्रवचनसार गाथा २३५ ऊपर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन]

इस गाथा में आगम के द्वारा वास्तव में सब कुछ दिखता है, वह बताते हैं। किसे सब कुछ दिखता है ? तो कहते हैं कि श्रमणों को। क्या दिखाई देता है ? अनादि-अनंत विचित्र गुण-पर्याय सहित जगत के समस्त पदार्थ जानने में आते हैं। किसप्रकार जानने में आते हैं ? आगम के द्वारा।

आप्त मीमांसा में यही बात श्री समंतभद्राचार्य ने ही है:—श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान जगत के समस्त पदार्थों को प्रकाशने के लिये समान है। भेद मात्र इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है, जबकि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान का सामर्थ्य जानने में क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में, सर्वज्ञ की सत्ता का निर्णय, निज सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का निर्णय तथा स्व सन्मुखता का पुरुषार्थ आ जाता है। ऐसा निर्णय करनेवाले को मैं राग का-शुभाशुभ विकार का तथा समस्त परपदार्थों का अकर्ता रहकर मात्र स्वभाव का ज्ञाता ही हूँ, ऐसी प्रतीति होती है, अर्थात् निर्मल पर्याय को उत्पन्न करूँ, ऐसी जो वृत्ति उठती हे, उसका भी अकर्ता ज्ञानस्वभावी हूँ, इस तरह अपने अखंड ज्ञातास्वभाव ऊपर दृष्टि होना—वीतरागता की प्राप्ति होना, वह क्रमबद्धपर्याय तथा सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने का फल है।

देखो, यहाँ तो आगम के द्वारा पदार्थ का यथार्थ निश्चय करने की बात चलती है। जैसे द्रव्य-गुण, अनादि-अनंत हैं; वैसे ही पर्याय के प्रवाह भी अनादि-अनंत हैं, ऐसा केवलज्ञान में जानने में आया है तथा आगम में भी ऐसा ही कहा है, और श्रुतज्ञानी को भी ऐसा ही यथार्थ प्रतिभासित होता है। केवलज्ञानी को सब प्रतिभासित हुआ है, ऐसा सुनकर कोई ऐसा माने कि केवलज्ञानी ने पदार्थ की आदि-अनन्तता जान ली तो ऐसी मान्यता बराबर नहीं है—क्योंकि वस्तु

का स्वरूप अनादि-अनंत ही है, और केवलज्ञानी के ज्ञान में उन सबका स्वरूप त्रिकालवर्ती और अनादि-अनंत रूप से ही जानने में आता है, तथा श्रुतज्ञानी भी आगम के द्वारा ऐसा ही जानते हैं अर्थात् प्रमेय कर सकते हैं, क्योंकि सब द्रव्य विस्पष्ट तर्कणा से अविरुद्ध हैं। मतिज्ञान की उत्तर तर्कणा वह श्रुत है। इसलिये श्रुतज्ञान में भी द्रव्य-गुण तथा समस्त पर्याय सहित लोक-अलोक तथा चार गति आदि का यथार्थ निश्चय हो सकता है।

देखो, यह अंतर अमाप बेहद क्षेत्रवाला आकाश है। उसमें किसी भी प्रकार मर्यादा अर्थात् उसकी हद आती नहीं। कोई पूछे कि:—अनंत-अनंत योजन के बाद क्या होगा? उसके बाद क्या होगा? उसके बाद क्या होगा? इसप्रकार किसी भी दिशा की मर्यादा दिखती ही नहीं। क्योंकि आकाश तो सर्व क्षेत्र में चारों दिशाओं में बेहद अमाप-अमाप क्षेत्रवाला ही है। देखो, इस तरह आकाश के क्षेत्र की बेहद अनंतता का निर्णय अल्पज्ञ अवस्था में भी स्पष्ट हो सकता है। ऐसा निर्णय यदि नास्तिक भी करना चाहे तो विस्पष्ट तर्कणा से कर सकता है। जिस तरह क्षेत्र अपेक्षा से एक आकाशद्रव्य की अनंतता का निर्णय हो सकता है, उसी तरह जीवादि पदार्थों की संख्या की अनंतता का निर्णय हो सकता है—यानि संख्या अपेक्षा से जीवादि छहों द्रव्य अनंत हैं, ऐसा निश्चित करने से वे सब पदार्थ तीनों काल भिन्न-भिन्न ही हैं, ऐसा भी निश्चित होता है। और वे पदार्थ अनंत गुण-पर्यायस्वरूप से स्वाधीन हैं अर्थात् प्रत्येक पदार्थ तीनों काल अपने स्वरूप से अपनेरूप है और पररूप नहीं है। प्रत्येक पदार्थ में अनंत गुण और प्रत्येक गुण में प्रतिसमय होनेवाली समस्त पर्याय स्वतंत्र है। इसलिये सब अपने निज स्वरूप से हैं तथा दूसरे के स्वरूप से नहीं है, ऐसा निश्चित हो सकता है। इस तरह सर्वज्ञ कथित शास्त्रों के द्वारा सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा के निकट यदि जिज्ञासु होकर समझना चाहे तो विस्पष्ट तर्कणा से समझ में आ सकता है। इसलिये आगम के द्वारा सबकुछ दिखाई देता है, ऐसा कहने में आया है।

त्रिकालवर्ती अनंत पर्यायसहित प्रत्येक द्रव्य के 'द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव' सर्वज्ञ परमात्मा केवलज्ञान के द्वारा जिस तरह स्पष्ट जानते हैं, उसी तरह अल्पज्ञानी भी विस्पष्टतर्कणा से जान सकता है। इस तरह तीन काल, तीन लोक में जहाँ जैसा है, वैसा आगम प्रमाण से यथार्थ निर्णय हो सकता है। इससे कोई ऐसा माने कि 'आगम में कहा है, इसलिये सच्चा अथवा भगवान सच्चे हैं इसलिये सच्चा', किंतु भैया! तुम निर्णय में सच्चे हुए बिना यह कोई भी तेरे लिये निमित्त अपेक्षा से भी सच्चे नहीं हैं।

यहाँ तो यह कहना है कि जैसे द्रव्य-गुण अकृत्रिम है, वैसे ही पर्याय भी अकृत्रिम है। अर्थात् वह पर से अकृत है, ऐसा जो नहीं मानता, उसे पदार्थ की, आगम की तथा सर्वज्ञ की पहिचान अथवा श्रद्धा ही नहीं है, तो उसे धर्म कहाँ से होगा ?

अब कहते हैं कि आगम के द्वारा द्रव्य अनेक विचित्र गुण-पर्यायवाले प्रतीत होते हैं अर्थात् श्रद्धान में आते हैं। कैसे हैं आगम ? अनेकांतमय हैं, अर्थात् अनेक धर्मों को कहनेवाले होने से प्रमाणभूत हैं। अर्थात् एक द्रव्य में रहनेवाले अपने-अपने गुण अर्थात् सहप्रवृत्त गुण और क्रमप्रवृत्त अनेक पर्यायरूप धर्मों को कहनेवाला है।

अनेकांत की व्याख्या:—

वस्तु में वस्तुपने को प्रसिद्ध करनेवाली अस्ति-नास्ति नित्य-अनित्य आदि परस्पर दो विरुद्ध शक्तियों का एकसाथ प्रकाशन होना, वह अनेकांत है। अनेकांत=अनेक धर्म, एक ही वस्तु में घटित होते हैं; जैसे द्रव्य है, वह अपनेरूप है और पररूप नहीं है; इसप्रकार की दोनों अस्ति-नास्ति अपनी ही शक्तियाँ हैं, अपना ही स्वभाव अर्थात् अपने ही धर्म हैं। प्रत्येक द्रव्य निज द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावरूप हैं और पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावरूप नहीं हैं। ऐसा अनेकांत स्वतंत्रता को ही प्रसिद्ध करता है। ऐसे अनेकांत स्वभावी पदार्थ की दृष्टि होने पर, विकाररूप अशुद्ध उपादान मुझसे है, किंतु कर्म से अथवा निमित्त से नहीं है, ऐसा जानने में आता है। यह मूलभूत बात है, सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में ऐसा ही आया है और वही आत्मा है; और ज्ञानी का भी ऐसा ही श्रद्धान होता है। सहप्रवृत्त अर्थात् गुण एकसाथ है तथा क्रमप्रवृत्त अर्थात् पर्याय क्रम-क्रम से एक के बाद एक प्रवर्तती है।

देखो, यहाँ आचार्यदेव सूक्ष्म बात कहते हैं कि:—पर्याय है, वह पर्याय से है, अर्थात् जड़ कर्म से या निमित्त से नहीं है। परंतु विकारी पर्याय है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप निर्मल पर्याय से भी नहीं। क्योंकि विकार की विकारी भावरूप से अस्ति है और अविकारी भावरूप से नास्ति है; उसीप्रकार विकार के कारण जीव की संवर पर्याय भी नहीं। जीवतत्त्व है, वह चैतन्यस्वरूप है; और पुण्य-पाप विकारी पर्याय है, वह आस्रवतत्त्व है, अर्थात् दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न लक्षणवाले होने से भिन्न-भिन्न ही जानने में आते हैं। जड़ कर्म अजीवतत्त्व है।

संवर-निर्जरा जो शुद्धभाव है, वह उससे है अर्थात् आस्रव-बंध से नहीं है। इसी तरह जड़कर्म के उदय से राग नहीं है, और राग से जड़कर्म का उदय नहीं है। इसप्रकार प्रत्येक पदार्थ की

पर्याय अपने से है और पर से नहीं है, ऐसा निश्चय करना, वह अनेकांत है, और ऐसा अनेकांत - स्वरूप सर्वज्ञ कथित आगम बताता है तथा श्रुतज्ञानी आगम के द्वारा जानता है।

यहाँ अज्ञानी शंका उठा करके कहता है कि:—द्रव्य-गुण तो शुद्ध है, इसलिये वे तो अपने से है और पर से नहीं है परंतु विकारी पर्याय कहाँ से आयी? उसे कहते हैं कि—भाई! सुन, वस्तु सत्‌रूप है या नहीं? जो वस्तु सत्‌रूप है तो उसके गुण-पर्याय भी सत्‌रूप हैं—अर्थात् विकारी पर्याय भी उसके स्वकाल में सत्‌रूप है अर्थात् विकार है, वह उस समय की विकार की योग्यता से है तथा जड़कर्म के उदय से विकार की अस्ति नहीं है, ऐसा अनेकांत है।

जिसे सात तत्त्वों की श्रद्धा हुई है, उसे जीवादि नव तत्त्व भिन्न-भिन्न ही प्रतिभासित होते हैं, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का स्वतंत्ररूप से सत्‌पना है; इसलिये द्रव्य सत् है, गुण सत् है और पर्याय भी सत्‌रूप है, अर्थात् (१) द्रव्य है, वह द्रव्य अपेक्षा से सत् और गुण-पर्याय की अपेक्षा से असत् है (२) गुण है, वह गुण अपेक्षा से सत् है और द्रव्य तथा पर्याय की अपेक्षा से असत् है तथा (३) पर्याय है, वह पर्याय अपेक्षा से सत् है तथा गुण और द्रव्य की अपेक्षा से असत् है। जगत में जो कुछ है, वह सर्व अनेकांतमय है अर्थात् स्वरूप से है और पररूप से नहीं है, तथा आगम में भी यही बात बताते हैं—रे भाई! तेरा ध्रुव स्वभाव है, वह कुछ एक समय के राग से नहीं है, तथा एक समय की निर्मल पर्याय से भी नहीं है, यदि ऐसा अनेकांत न होवे तो जीवतत्त्व तथा संवर-निर्जरातत्त्व भिन्न-भिन्न नहीं रह सकते। प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के २० बोल में आया है कि:—पर्याय द्रव्य सामान्य को स्पर्शती नहीं, अर्थात् सामान्य, विशेष को स्पर्श नहीं करता तथा विशेष, सामान्य को नहीं स्पर्शता, यही अनेकांत है। जीव में संवर, निर्जरा अथवा मोक्ष की एक समय की निर्मल पर्याय हुई, वह पर्याय अपेक्षा से सत् है परन्तु द्रव्य अपेक्षा से असत् है। पर्याय, द्रव्य को स्पर्शती नहीं, यदि स्पर्श करे तो उसका भिन्न अस्तित्व नहीं रहता। उसीप्रकार द्रव्य है, वह द्रव्य अपेक्षा से सत् है और पर्याय अपेक्षा से असत् है। यदि ऐसा न होवे तो द्रव्य एक पर्याय जितना हो जाये और नित्य-द्रव्यरूप से अस्तित्व रख नहीं सकता।

शंका:—आगम में (शास्त्र में) तो कहा है कि पर्याय का अनुभव होता है, द्रव्य का नहीं और यहाँ कहा कि पर्याय, द्रव्य का स्पर्श करती नहीं तो यह बात कैसे?

समाधान:—पर्याय, द्रव्य के आश्रय से है, और अनुभव पर्याय का होता है किंतु अनुभव करनेवाला द्रव्य है। इस बात का स्वीकार करके द्रव्य सत्, गुण सत् और प्रत्येक समय की पर्याय

भी सत् है; पर से अहेतुक है; पर्याय को पर्याय का आश्रय है, ऐसे सत् का स्वतन्त्रपना मानना मूल बात है, इस अपेक्षा से पर्याय, द्रव्य को छूती नहीं कहा। यदि निश्चय से पर्याय, द्रव्य को स्पर्श करे तो द्रव्य पर्याय जितना हो जाये और पर्याय का लक्षण अलग न रहे। सत् का अस्तित्व न रहे। इस अपेक्षा से पर्याय, द्रव्य को अस्पर्शित-अनालिंग कही है।

यहाँ अनेकांतमय वस्तुस्वरूप का निश्चय कराते हैं, हरेक वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपने से है; पर से नहीं है, पर के कारण, कार्य या आधार नहीं है अर्थात् ऐसा अनेकांतमय वचन, ज्ञान और अनेकांतमय प्रत्येक पदार्थ है। इसलिये किसी द्रव्य का कार्य कभी अन्य द्वारा हो सकता नहीं। यदि हो जाये तो द्रव्य, द्रव्यरूप से रह सकते नहीं, गुण, गुणरूप से रह सकते नहीं, पर्याय, पर्यायरूप से रह सकते नहीं और अनिश्चिल ऐसे द्रव्य, गुण, पर्यायों का निर्णय केवलज्ञान में भी नहीं होगा, अर्थात् तत्त्व का कोई निर्णय कर सकेगा नहीं, किंतु अनेकांत प्रमाणज्ञान और निश्चय-व्यवहारदृष्टि द्वारा वस्तु का स्पष्ट निर्णय हो सकता है।

प्रथम से ही पर्याय सत् भी द्रव्य का अंश उनके स्वकाल से सत् है। पर्याय, पर्याय की सत्ता से है। इस न्याय से निर्णय होता है कि निश्चय से पर्याय, द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। यदि निश्चय से स्पर्श माना जाये तो पर्याय एक समय स्थायी न रहकर द्रव्य हो जाये और द्रव्य त्रैकालिक अखंड अंशीरूप न रहकर एक समय की पर्याय जितना हो जाये किंतु ऐसा तो होता नहीं। अहो! अमृतचन्द्राचार्य देव ने तो अनेकांत द्वारा स्वाधीनता की अपूर्व अमृतमय सरिता बहाई है।

अस्ति-नास्तिरूप धर्म से प्रत्येक वस्तु आगमसिद्ध है—आगम अनेकांतमय है; इसलिये प्रमाणभूत है, सच्चे ही हैं। अनेकांत ही प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता तथा पर से पृथक्ता सिद्ध करता है। अस्ति-नास्ति से वस्तु का निश्चय होते ही दृष्टि में वीतरागता, स्वतंत्रता, यथार्थता का ग्रहण और मिथ्यात्व का त्याग हो जाता है।

आगम के साथ-साथ शब्दसमय, अर्थसमय का वर्णन किया, अब ज्ञानसमय का वर्णन करते हैं:—एक समय में केवलज्ञान प्रगट करने की ताकत जीव में है। शब्दरूप अगम में पदार्थ को कहने की शक्ति है (कारण कि ऐसा वाचक-वाच्य संबंध है) और पदार्थ सत्तात्मक ऐसे अनेक धर्मात्मक होने से आगम सिद्ध है। इससे सब पदार्थ श्रमणों को स्वयंमेव ज्ञेयभूत होते हैं। वस्तु-पदार्थ अर्थात् छह द्रव्य और उनके गुण-पर्याय, वह सब अनेकांतमय है, ऐसा (१) आगम से अर्थात् सर्वज्ञ की वाणी से (२) पदार्थ के स्वरूप से, तथा सम्यग्ज्ञान द्वारा बराबर ज्ञात होते ही हैं,

कारण कि श्रमणों विचित्र गुण पर्यायवाले सर्व द्रव्यों को जाननेवाला ऐसा अनेकांतरूप भाव श्रुतज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमता है, जिससे आगम में या भावश्रुत ज्ञान द्वारा कोई वस्तु गुप्त-अदृश्य नहीं है कि जो ज्ञात न हो, अहो! इसमें तो पर से निमित्त से कार्य माननेवाले संयोगदृष्टिवान की सभी तकरार-झगड़ाओं का निवेड़ा हो जाता है।

शब्द अर्थात् वाणी द्रव्यश्रुत है और स्वसन्मुख ज्ञान भावश्रुतज्ञान है। वह अनेक धर्मात्मक पदार्थ को जानता है। श्रुतज्ञानी परद्रव्यादिक से भिन्नत्व और विभावों से अपना अकर्तृत्व जानकर स्वसन्मुख ज्ञातापन में निःशंकतया नित्य सावधान रह सकता है और नित्य चैतन्यघन स्वरूप के आश्रय के बल द्वारा सर्वत्र यथार्थता, स्वतंत्रता-वीतरागतारूप तात्पर्य को ग्रहण करता है। इसलिये उनके आगम चक्षु है। आगमहीन को हित-अहित का कुछ भी विवेक नहीं होता।

श्रीगुरु के चरणकमलों की सेवा का प्रसाद

तत्त्वविचार में चतुर, निर्मल हृदयवाला जीव गुणों में श्रेष्ठ ऐसे सुगुरु के चरणकमलों की सेवा के प्रसाद से अपने अंतरंग में चैतन्य परमतत्त्व का अनुभव करते हैं। गुणों में (सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि में) श्रेष्ठ ऐसे गुरु, शिष्य को कहते हैं कि प्रथम भाव को पहिचान—पर से भला-बुरा मानना छोड़। देह में रहते हुए भी देह से—शुभाशुभराग से भिन्न ऐसे तेरे असंग परम चैतन्यतत्त्व को अंतर में देख, यही मैं हूँ, ऐसे भावभासन द्वारा चैतन्य का अनुभव होता है।

श्रीगुरु के ऐसे वचनों को दृढ़तापूर्वक श्रवण करके निर्मल चित्तवाला शिष्य अंतर में तद्रूप परिणमन करता है.... तथा ऐसी सेवा (उपासना) के प्रसाद से पात्र जीव अपने आत्मा का अनुभव करता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नः—सामनेवाले यह जीव मिथ्यादृष्टि हैं, यह बात दूसरे को ख्याल में आ सकती है ?

उत्तरः—हाँ, समयसार गाथा ३२४-२७ में स्पष्टतया कहा है कि:—

टीका—अज्ञानीजन ही व्यवहार में विमूढ़ होने से परद्रव्य को ऐसा देखते-मानते हैं कि 'यह मेरा है; और ज्ञानीजन निश्चय प्रतिबुद्ध (निश्चय के ज्ञाता) होने से परद्रव्य की कणिकामात्र को भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते-मानते। इसलिये, जैसे इस जगत में कोई व्यवहार विमूढ़ ऐसा दूसरे के गाँव में रहनेवाला मनुष्य 'यह ग्राम मेरा है' इसप्रकार मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (-विपरीत दृष्टिवाला) है, उसीप्रकार ज्ञानी भी किसीप्रकार से व्यवहार विमूढ़ होकर परद्रव्य को 'यह मेरा है' इसप्रकार देखे-माने (-अर्थात् निमित्त से-व्यवहार से मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पर मेरा कुछ भला-बुरा कर सकते हैं, ऐसा माने-देखे) तो उस समय वह भी नि:संशयत: अर्थात् निश्चयत: परद्रव्य को निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है। इसलिये तत्त्वज्ञ पुरुष 'समस्त परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, यह सुनिश्चितया जानता है कि—'लोक और श्रमण-दोनों के जो यह परद्रव्य में कर्तापन का व्यवसाय (-अभिप्राय) है, वह उनकी सम्यग्दर्शन रहितता के कारण ही है।'

[नोट—देखो यहाँ आचार्यदेव स्पष्टतया कहते हैं कि दूसरा जीव मिथ्यादृष्टि है, वह इसप्रकार स्पष्ट जाना जाता है।]

भावार्थ—जो व्यवहार से मोही होकर परद्रव्य के कर्तृत्व को मानते हैं, वे लौकिकजन हो या (जैन) मुनिजन हों—मिथ्यादृष्टि ही हैं। यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर परद्रव्य को 'अपना' मानता है, (पर से अपना और अपने से पर का भला-बुरा हो सकता है; शुभराग हितकर हैं, करनेयोग्य हैं; मैं शरीर की क्रिया व्यवहार से तो कर सकता हूँ, वाणी बोल सकता हूँ, ऐसा माने) तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।

जिनोपदेश

कुर्वन् स्वकं स्वभावं आत्मा कर्ता स्वकस्य भावस्य।
न हि पुद्गलकर्मणामिति जिन वचनं ज्ञातव्यम्॥६१॥

अर्थ—अपने *स्वभाव को करता हुआ आत्मा वास्तव में अपने भाव का कर्ता है, पुद्गल कर्मों का नहीं; ऐसा जिन वचन जानना।

जीव-पुद्गल प्रत्येक द्रव्य में कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण (आधार) ये छह कारकों (कारणों-) अशुद्धदशा में या शुद्धदशा में स्वतंत्र ही हैं; अन्य द्रव्यादि से निरपेक्ष हैं, ऐसा गाथा ६२ में कहा है:—

अर्थ—कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को करते हैं और वैसा जीव भी कर्मस्वभाव भाव से (-औदयिकादि भाव से) बराबर अपने को करता है।

टीका—निश्चयनय से अभिन्नकारक होने से कर्म और जीव स्वयं अपने-अपने रूप के कर्ता हैं ×××ऐसा-स्वयमेव षट्कारकरूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता। भावार्थ—××इसप्रकार, पुद्गल की कर्मोदयादि रूप से या कर्म-बंधादिरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में पुद्गल ही स्वयमेव छह कारकरूप से वर्तता है। इसलिये उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है, तथा जीव की औदयिकादि भावरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही छह कारकरूप से वर्तता है। इसलिये उसे अन्य कारकों (-कारणों) की अपेक्षा नहीं है। पुद्गल की और जीव की उपरोक्त क्रियाऐं एक ही काल में वर्तती हैं, तथापि पौद्गलिक क्रिया में वर्तते हुए जीव के छह कारक पुद्गल कारकों से बिलकुल भिन्न और निरपेक्ष हैं। वास्तव में किसी द्रव्य के कारकों को किसी अन्य द्रव्य के कारकों (कारणों) की अपेक्षा नहीं होती॥६२॥

[*यद्यपि शुद्ध निश्चय से केवलज्ञानादि शुद्धभाव 'स्वभाव' कहलाते हैं, तथापि अशुद्ध निश्चय से रागादिक भी 'स्वभाव' कहलाते हैं।] —पंचास्तिकाय शास्त्र गाथा ६१

सैद्धांतिक चर्चा

लेख नं० ६ गतांक से चालू

धर्म का मूल सर्वज्ञ है, सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का श्रद्धान विपरीत अभिप्रायरहित और भावभासनसहित श्रद्धान है, जो निज शुद्ध अंत:तत्त्व के आश्रय से ही हो सकता है। जो जीव अपने हित (-सुख) के इच्छुक हैं, उनको सात तत्त्व में भी मोक्षतत्त्व (-अपना सर्वज्ञ वीतराग -स्वभाव) कैसा है और अपूर्व साधन द्वारा मोक्षदशा प्रगट करनेवाले अरहंत और सिद्ध परमात्मा (सर्वज्ञ) का स्वरूप क्या है, वह विशेषरूप में अच्छी तरह जानना ही चाहिये। जिनको अपूर्व तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा होगी, संसार-भव-दु:ख से भयभीत होगा, यथार्थता-वीतरागता को ही ग्रहण करना चाहते हैं, वे मध्यस्थता से और धैर्य से इस लेखमाला को पढ़कर सच्चे समाधान को प्राप्त करेंगे।

प्रश्न २ की भूमिका

प्रथम प्रश्न के जवाब का विशेष खुलासा अंतिम प्रश्न तक आवेगा। इसलिये उसको बराबर पढ़ लेना।

जिज्ञासुओं को विशेष समझने योग्य

(१)

२३६—श्री जैन सिद्धांत में 'समय' तीन प्रकार का है:—

(१) ज्ञानसमय (२) अर्थसमय (३) शब्दसमय। श्री पंचास्तिकाय, गाथा ३ की टीका में कहा है कि:—

(१) पाँच अस्तिकाय का 'समवाद' अर्थात् मध्यस्थ (राग-द्वेष से विकृत नहीं हुआ) पाठ (मौखिक या शास्त्रारूढ़ निरूपण), वह शब्दसमय है अर्थात् शब्दागम, वह शब्दसमय है।

(२) मिथ्यादर्शन के उदय का नाश होने पर, उस पंचास्तिकाय का ही सम्यक् अवाय अर्थात् सम्यग्ज्ञान, वह ज्ञानमय है, अर्थात् ज्ञानागम, वह ज्ञानसमय है।

(३) कथन के निमित्त से ज्ञात हुए उस पंचास्तिकाय का ही वस्तुरूप से समवाय अर्थात् समूह, वह अर्थसमय है अर्थात् सर्व पदार्थ समूह, वह अर्थसमय है।

(२)

२३७—श्री प्रवचनसार भगवान की दिव्यध्वनि का सार है, क्योंकि प्रवचन का अर्थ दिव्यध्वनि होता है। श्री प्रवचनसार में तीन अधिकार आये हुवे हैं:—

(१) ज्ञान अधिकार (२) ज्ञेय अधिकार (३) चरणानुयोग अधिकार। श्री प्रवचनसार के ज्ञान अधिकार में गाथा ४९ की टीका में कहा है कि:—

'अपने को जानने पर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं कि मानों वे ज्ञान में स्थित ही हों, क्योंकि ज्ञान की अवस्था में से ज्ञेयाकारों को भिन्न करना अशक्य है। यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञान के परिपूर्ण आत्मसंचेन का अभाव होने से परिपूर्ण एक आत्मा का भी ज्ञान सिद्ध न हो'—यह ज्ञानसमय हुआ।

श्री प्रवचनसार ज्ञेय अधिकार की गाथा २०० में निम्न प्रकार कहा है:—

'ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण संबंधी की अनिवार्यता के कारण ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से विश्वरूपता को प्राप्त होता हुआ भी जो (शुद्धात्मा) सहज अनंत शक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता'—यह अर्थसमय हुआ।

२३८—श्री प्रवचनसार चरणानुयोग अधिकार गाथा २३४ की टीका में कहा है कि:—

'सर्वतः चक्षुत्व की सिद्धि के लिए भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते हैं। **यद्यपि ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक मिलन हो जाने से उन्हें भिन्न करना अशक्य है (अर्थात् ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात न हों, ऐसा करना अशक्य है)** तथापि वे उस आगमचक्षु से स्व-पर का विभाग करके, जिनने महा मोह को भेद डाला है, ऐसे वर्तते हुये, परमात्मा को पाकर, सतत् ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं।' यह शब्दसमय हुआ।

२३९—यहाँ पर इसप्रकार समझना कि सर्वत्र ज्ञानसमय में, अर्थसमय में और शब्द में सब बातें एक प्रकार से आती हैं—इसमें परस्पर विरोध कभी नहीं होता है। इसलिए अर्थसमय सादि सांत हो और ज्ञानसमय में अनादि अनंत भासे और शब्द समय में (अर्थात् आगम में) अर्थ को अनादि-अनंत कहने में आवे, ऐसा कभी बन सकता नहीं है। श्रुतज्ञान में एक प्रकार से जानने में आवे और उससे विपरीतरूप केवलज्ञान में जानने में आवे तो वह दोनों ज्ञान 'ज्ञानसमय' रहता नहीं है परंतु ऐसा कभी बनता ही नहीं है।

२४०—जिसप्रकार केवली के ज्ञान में वस्तुस्वरूप आता है, वैसा ही श्रुतकेवली के ज्ञान में आता है। देखिये, श्री नियमसार की मूल गाथा १ में कहा है कि 'केवली सुदकेवली भणिदं' उसकी

टीका में उसका अर्थ निम्न प्रकार से कहने में आया है:—केवलियों तथा श्रुतकेवलियों ने कहा हुआ है। 'केवली' वे सकल प्रत्यक्षज्ञान को धारण करनेवाले और 'श्रुतकेवली' वे सकल द्रव्यश्रुत को धारण करनेवाले, ऐसे केवलियों तथा श्रुतकेवलियों ने कहा हुआ।

२४१—ज्ञान और ज्ञेय का न्यायशास्त्र के अनुसार अविनाभाव संबंध है और आगम के अनुसार उसका परस्पर अनिवार्य निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इसलिए जैसे केवली और सम्यक् श्रुतज्ञानी जानते हैं, वैसा ही ज्ञेय का स्वरूप, परिणमन आदि स्वयमेव-स्वत: होता है; इससे विरुद्ध कभी होता ही नहीं है। ज्ञान ज्ञेय को जबरदस्ती से परिणमित करावे और ज्ञेय ज्ञान को जबरदस्ती से परिणमित करावे तो निमित्त ने उपादान पर निश्चय से प्रभाव डाला, ऐसा हो जावेगा। निमित्त का कुछ भी प्रभाव उपादान पर हो तो वे दोनों द्रव्य एक हो जावेंगे। निमित्त होते ही हैं किंतु निमित्त चाहिये, ऐसी मान्यता में निमित्ताधीन दृष्टिरूप मिथ्यात्व और अनवस्था दोष आता है।

ज्ञान में ज्ञेय का जैसा स्वरूप, परिणमन आदि आता है, वैसा ही ज्ञेय का स्वरूप और परिणमन स्वयमेव-स्वत: तीन लोक और तीन काल में होता है; जैसा ज्ञेय का स्वरूप और परिणमन है, वैसा ही ज्ञान जानता है अर्थात् उसका ज्ञान स्वयमेव-स्वत: करता है, तीन लोक और तीन काल में इससे विपरीत होता नहीं है।

२४२—इसलिये स्वामी विद्यानंदजी अपने 'पात्रकेशरी' स्तोत्र में केवलज्ञान का शब्द दिया है और कहा है कि भगवान के ज्ञान के वश सब पदार्थों का परिणमन तीनों काल होता है। इसप्रकार सब आचार्यों का एक ही प्रकार का मत है। कोई भी भविष्य की विकारी पर्याय और उसका निमित्त भगवान के ज्ञान में तात्कलिकरूप से न आवे, ऐसा बन सकता ही नहीं है।

(३)

२४३—सम्यग्ज्ञान के पाँच प्रकार हैं:—

(१) सम्यक्मति (२) सम्यक्श्रुत (३) सम्यक् अवधि (४) मन:पर्यय (५) केवलज्ञान

२४४—एक से चार तक के ज्ञान छद्मस्थ के होते हैं। केवलज्ञान सर्वज्ञ को होता है। छद्मस्थ का सम्यग्ज्ञान चार में से किसी भी प्रकार का हो, वह सब केवलज्ञानानुसार है। केवलज्ञान में एक प्रकार से जानने में आवे और यह चार प्रकार का सम्यग्ज्ञान में उससे उल्टा (विपरीत) जानने में आवे तो उसका सम्यक्रूप रहेगा ही नहीं। युगपत् सर्व भासन हो या क्रम भासन हो, यह दूसरी बात है। (देखिये, स्वामी समंतभद्र कृत 'आत्ममीमांसा, श्लोक १०१)।

२४५—वस्तुस्वरूप का जो ज्ञान छद्मस्थदशा में निश्चित किया था, वह ही केवलज्ञान में जाना, तब प्रतीति परम अवगाढ़ होती है। केवलज्ञान होने पर जो छद्मस्थ अवस्था का सम्यग्ज्ञान असत्य था, ऐसा जानने में आवे तो श्रद्धा भिन्न-भिन्न होगी और ज्ञान भी मिथ्या होगा, छद्मस्थ के ज्ञान में और केवली के ज्ञान में हीनता-अधिकता, अस्पष्टता-स्पष्टता का अंतर हो, वह दूसरी बात है किंतु जिसप्रकार वस्तु केवलज्ञान में अनादि-अनंत ज्ञात होती है, उसीप्रकार छद्मस्थ के सम्यग्ज्ञान में भी वस्तु अनादि-अनंत ज्ञात होती है। छद्मस्थ के ज्ञान में जो वस्तु अनादि-अनंत जानने में आती है, वही वस्तु केवलज्ञान में भी अनादि-अनंत जानने में आती है, क्योंकि सब सम्यग्ज्ञान केवलज्ञानानुसार है—एक दूसरे से विरुद्ध नहीं होते हैं। (देखिये, श्री मोक्षमार्गप्रकाशक देहली से प्रकाशित हिन्दी अध्याय नं० ९, पृष्ठ ४७५)

२४६—इस विषय में श्री गोम्मटसार जीवकांड, गाथा १९६ की टीका में कहते हैं कि:—

'अरे तार्किक भव्य! संसारी जीवों का परिमाण **अक्षयानंत है, इसलिये केवली केवलज्ञान दृष्टि से और श्रुतकेवली श्रुतज्ञान दृष्टि से ऐसा ही देखा है। इसलिये यह सूक्ष्मता तर्कगोचर नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण और आगम प्रमाण से विरुद्ध होने से वे तर्क अप्रमाण हैं।** जैसे किसी ने कहा कि अग्नि उष्ण नहीं क्योंकि अग्नि है, वह पदार्थ है; जो जो पदार्थ हैं, वे वे उष्ण नहीं, जैसे जल उष्ण नहीं है, ऐसा तर्क किया परंतु यह तर्क प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है। अग्नि प्रत्यक्ष उष्ण है, इसलिए यह तर्क प्रमाण नहीं है ××**ऐसे ही जो केवली प्रत्यक्ष और आगमोक्त कथन उससे विरुद्ध होने से तेरा तर्क प्रमाण नहीं।**××

बहुत कहने से क्या? सर्व तत्त्वों का वक्तापुरुष जो है आप्त, उसकी सिद्धि होने पर उस आप्त के वचनरूप जो आगम उसकी सूक्ष्म, अंतरिम, दूरि पदार्थों के विषय में प्रमाणता की सिद्धि होती है। इसलिये उस आगमोक्त पदार्थों के विषय में मेरा चित्त निस्संदेहरूप है। बहुत वादी होने से क्या साध्य है? (क्या लाभ है, कुछ नहीं)।

२४७—जिसप्रकार श्री नियमसार की गाथा १ में कहा है, उसके अनुसार ही यहाँ पर कहा है कि केवलज्ञान की दृष्टि और श्रुतकेवली की श्रुतज्ञानदृष्टि एक ही प्रकार से वस्तु को देखती है। उसमें विरोधता होती नहीं है। आगम आप्त के वचनरूप है और पदार्थ आप्त के ज्ञान में आये ऐसे ही हैं, इसलिये केवलज्ञान में वस्तु सादिसांतरूप भासे और उसकी संख्या सांतरूप भासे और श्रुतज्ञान में वस्तु अनादि-अनंत भासे और संख्या अनंत भासे, ऐसा बनता ही नहीं है। श्री समयसार की मूल

गाथा १ की संस्कृत टीका में 'श्रुतकेवली भणितम्' ऐसा जो अर्थ है, उसका स्पष्टीकरण करते हुये श्री समयसार के पृष्ठ ६ में कहा है कि सर्वज्ञदेव और श्रुतकेवली, गणधरदेव दोनों वस्तु के स्वरूप को विरोधता से जानते ही नहीं हैं और वे एकरूप से ही जानते हैं, इसलिए श्रुतकेवली के द्वारा कथित होने से परमागम प्रमाणता को प्राप्त है। आप्तमीमांसा की हिन्दी टीका, पृष्ठ २ में भी ऐसा ही लिखा है।

२४८—श्रुतज्ञान और केवलज्ञान समान हैं और केवलज्ञान में सब बातें निश्चित हैं।

केवलज्ञान में और श्रुतज्ञान में इस विषय में कुछ भी अंतर है ही नहीं। कितने लोग ऐसा मानते हैं कि श्रुतज्ञान में वस्तु अनादि निधन है और केवलज्ञान में सादिसांत है, यह मान्यता मिथ्या है। इस विषय में श्री गोम्मटसार जीवकांड, गाथा ३६९ की टीका में श्रुतज्ञान की महिमा कहते हैं कि:—

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो,
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं॥३६९॥
श्रुतकेवलं च ज्ञानं द्वे अपि सदृशे भवतो बोधात्।
श्रुतज्ञानं तु परोक्षं प्रत्यक्षं केवलं ज्ञानं॥३६९॥

टीका—श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों **समस्त वस्तुओं के द्रव्य-गुण-पर्याय जानने की अपेक्षा समान हैं। इतना विशेष श्रुतज्ञान परोक्ष है, केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।**

भावार्थः—जैसे केवलज्ञान का अपरिमित विषय है, वैसे ही श्रुतज्ञान का अपरिमित विषय है। शास्त्र से सभी को जानने की शक्ति है परंतु श्रुतज्ञान सर्वोत्कृष्ट होने पर सर्व पदार्थों के विषय परोक्ष कहना अविशद-अस्पष्ट ही है क्योंकि अमूर्तिक पदार्थों के विषय या सूक्ष्म अर्थपर्यायों के विषय या अन्य सूक्ष्म-सक्ष्म अंशों के विषय विशदता करके प्रवृत्ति श्रुतज्ञान की नहीं होगी। और जो मूर्तिक व्यंजनपर्याय या अन्य स्थूल अंश इस ज्ञान के विषय हैं, उनके विषय भी अवधिज्ञानादि की भाँति प्रत्यक्षरूप नहीं प्रवर्ते हैं; इससे श्रुतज्ञान परोक्ष है, और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहिए विशद और स्पष्टरूप **मूर्तिक अमूर्तिक पदार्थ *स्थूल सूक्ष्म पर्याय उनके विषै प्रवर्त्तै हैं,** क्योंकि समस्त आवरण और वीर्यांतराय के क्षय से प्रगट होते हैं, इसलिए प्रत्यक्ष हैं। 'अक्ष' कहिये आत्मा उसके **प्रति निश्चित होकर परद्रव्य की अपेक्षा नहीं चाहते हैं,** इसलिए प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष का लक्षण विशद या स्पष्ट है। जहाँ अपने विषय को जानने में कमी नहीं होती, उसको विशद या स्पष्ट

*संस्कृत में 'अर्थ व्यंजन पर्याय' तथा 'सर्व में' ऐस शब्द आया है। इन शब्दों का स्पष्टीकरण उपसंहार में आवेगा।

कहते हैं और उपात्त या अनुपात्तरूप परद्रव्य की अपेक्षा सहित जो होता है, उसको परोक्ष कहते हैं। इसका लक्षण अविशद अस्पष्ट जानना। मन, नेत्र अनुपात्त है, अन्य चार इंद्री उपात्त हैं। **इसप्रकार श्रुतज्ञान केवलज्ञान विषय प्रत्यक्ष परोक्ष लक्षण भेद से भेद है और विषय अपेक्षा समानता है।** इसलिए श्री समंतभद्राचार्य ने देवागम स्तोत्र विषैं कहा है:—

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्व तत्त्व प्रकाशके।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥

इसका अर्थ:—**स्याद्वाद तो श्रुतज्ञान और केवलज्ञान यह दोनों सर्व तत्त्व के प्रकाशी हैं** परंतु प्रत्यक्ष परोक्ष भेद से भेद पाते हैं। इन दोनों प्रमाणों के विषय अन्यतम जो एक सो अवस्तु है एक का अभाव माने तो दोनों का अभाव-विनाश जानना अर्थात् इनमें से एक ही कहिये और एक न कहिये तो ऐसा अन्यतम होय तो अवस्तु होय (देखिये श्री आप्तमीमांसा हिन्दी पृष्ठ १०९) वस्तुरूप से यह दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। (देखिये पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी, देहली से प्रकाशित, पृष्ठ ५१२)

२४९—नोट:—केवलज्ञान में सर्व पदार्थ 'निश्चित' हैं। कोई भी पदार्थ उपादान-निमित्त और उसका कोई भी धर्म अंश अनिश्चित है ही नहीं, ऐसा बताने के लिये टीका में 'निश्चित' शब्द आया है। ऐसा न माने और कोई भी अंश को अनिश्चित माने, वह अल्पज्ञान को केवलज्ञान मानते हैं। उसको सर्वज्ञ का ज्ञान पराकाष्ठारूप परिणमित है, ऐसी श्रद्धा है ही नहीं।

श्री प्रवचनसार की गाथा ८० में स्पष्ट लिखा है कि जो जीव अरहंतदेव का द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व को यथार्थपने जानते हैं, उसका पुरुषार्थ परसन्मुख से हटकर स्वसन्मुख हुये बिना रहता नहीं है और उसीप्रकार आत्मा का ज्ञाता हो जाता है।

जो जीव अरहंत की पर्याय को (केवलज्ञान की पर्याय को) पराकाष्ठारूप से मानते नहीं हैं अर्थात् कोई भी विकारी पर्यायों को और उसके निमित्तादि को अनिश्चित मानते हैं, उन जीवों की पर्याय सदा परसन्मुख रहेगी, स्वसन्मुख होगी ही नहीं, अर्थात् पर की कर्ताबुद्धि, पर से लाभ-नुकसान की बुद्धि, और राग के कर्तापना की बुद्धि जो अनादि से चली आती है, उसका अभाव होगा ही नहीं; उसकी दृष्टि संयोग की ओर झुकनेवाली और सदैव परद्रव्य अर्थात् निमित्त आधीन रहेगी और उसको स्वाधीनता का प्रगटपना कभी होगा ही नहीं।

२५०—'अनिश्चित' शब्द का अनेक अर्थ होता है, जब स्व-समय अथवा स्वभाव भाव

(एक तरफ) और पर समय अथवा विभाव भाव (दूसरी तरफ) का प्रश्न हो तो विकारी भाव जीव का है कि पुद्गल का है, वे अपने स्वभाव में नियत, निश्चय, स्थिर, एकरूप रहे तो उसको 'निश्चित' कहते हैं और जो अपने स्वभाव में निश्चल न हो और विकाररूप परिणमे तो उसको अनियत-अनिश्चित कहते हैं, किंतु वह दोनों प्रकार की पर्यायें द्रव्यों की भावगत पर्यायें हैं, उसका समय सदैव स्वकाल से निश्चित ही होता है और केवलज्ञान में वह परिपूर्णरूप से उसके निमित्त सहित भासते हैं, केवलज्ञान में वे परिपूर्ण रूप से निश्चित ही हैं, अनिश्चित है ही नहीं। अतः अब कैसा निमित्त मिलेगा, कैसी उसकी प्रतिक्रिया होगी आदि बातें अनिश्चित रहती हैं।'-इसप्रकार की जिसकी मान्यता है, वह मान्यता केवलज्ञान को अस्वीकार करनेवाली है। केवलज्ञान **'सर्व भावगत'** है यह सब बातें आगे आ चुकी हैं। इसलिये किसी भी **पर्याय को 'अनिश्चित' मानना न्याय विरुद्ध है, सर्वज्ञ के ज्ञान में छह द्रव्य सर्वकाल (अस्ति से) और आदि-अंत रहित (नास्ति से) इसप्रकार अनेकांत स्वरूप देखने में आते हैं।** (From eternity and end leso)

२५१—श्री प्रवचनसार में ज्ञेय अधिकार आया है, ज्ञेय अधिकार की ३(९५) ४(९६) ५(९७) ६(९८) में उसका वर्णन है।

श्री प्रवचनसार गाथा ९५ में सर्वज्ञ भगवान 'द्रव्य' किसको कहते हैं, वह बतलाते हैं, स्पष्टता के लिये उसमें 'बुवन्ति' शब्द आया है, गाथा ९६ में 'द्रव्य' का अस्तित्व सर्वकाल है, ऐसा कहते हैं, गाथा ९७ में 'वास्तव धर्म उपदीशता जिनवर वृषभ' सब द्रव्यों का स्वरूप 'सत्' दिखलाते हैं और गाथा ९८ में द्रव्यस्वभाव-सिद्ध है और सत् है ऐसा 'श्री जिनों ने तत्त्वतः कहा है' आगम में (भगवान की दिव्यध्वनि में भी) उसीप्रकार सिद्ध है, ऐसा नहीं माननेवाला परसमय है, ऐसा कहा है।

श्री प्रवचनसार की गाथा ९५ में इसप्रकार कहा है:—

अपरिव्यक्त स्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्व संबद्धम्।
गुणवच्च सपर्यायंयत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति॥९५॥

अर्थः—स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्यायसहित है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं। (अर्थात् सर्वज्ञ कहते हैं)।

श्री प्रवचनसार की गाथा ९६ में भी निम्न प्रकार कहा है:—

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः॥९६॥

अर्थः—सर्वकाल में गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व है, वह वास्तव में स्वभाव है।

श्री प्रवचनसार की गाथा ९७ में निम्नलिखित हैं:—

इह विविध लक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम्।
उपदिशता खलु धर्म जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥९७॥

अर्थः—धर्म का वास्तव में उपदेश करते हुये जिनवर वृषभ ने इस विश्व में विविध लक्षणवाले (भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्ववाले सर्व) द्रव्यों का 'सत्' ऐसा सर्वगत लक्षण एक कहा है।

श्री प्रवचनसार की गाथा ९८ में निम्न प्रकार कहा है:—

द्रव्यं स्वभाव सिद्धं सदिति जिनास्तत्वतः समाख्यातवन्तः।
सिद्धं तथा आगमतो नेच्छति यः स हि पर समयः ॥९८॥

अर्थः—द्रव्यस्वभाव से सिद्ध और (स्वभाव से ही) 'सत्' है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने यथार्थतः कहा है; इसप्रकार आगम से सिद्ध है, जो इसे नहीं मानता, वह वास्तव में परसमय है।

२५२—सब गाथाओं में स्पष्टरूप से कहने में आया है कि यह सब सर्वज्ञ के ज्ञान में झलकते हैं; उसको जो न माने, वे परसमय हैं।

जो वस्तु 'सर्वकाल' अस्तित्वरूप हो, वह सर्वज्ञ के ज्ञान में किसप्रकार सर्वकाल मिटकर 'अल्पकाल' हो जावे? किसप्रकार उसका अनादि-अनंतरूप मिटकर 'सादि सांत' हो जावे? (१) भगवान का ज्ञान (२) वस्तु का स्वभाव (३) आगम, यह तीनों एक ही प्रकार के होते हैं; ऐसा 'जिनोत्तमने' कहा है (देखिये पंचास्तिकाय गाथा २-३ तथा उन दोनों आचार्यों की टीका) वह रहेगा ही नहीं।

२५३—भगवान अकलंकदेव तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ९ की टीका 'राजवार्तिक' में भी कहते हैं कि जो वस्तु वस्तुरूप तत्त्वतः सर्वकाल (अनादि-अनंत) है, वह अल्पकालीन नहीं हो सकती है। सर्वज्ञ ने अनंत को जान लिया, उसका अर्थ वे सांत हो गया, ऐसा नहीं है क्योंकि अनंत अनंतरूप से ही ज्ञात होता है, उसीप्रकार सर्वज्ञ ने अनादि को जान लिया, उसका अर्थ वे सादि हो गये, ऐसा नहीं है क्योंकि अनादि, अनादिरूप से ज्ञात होता है। श्री पूज्यपादाचार्य सर्वार्थसिद्धि में और श्री वीरसेनाचार्य भी श्री धवल में उसीप्रकार कहते हैं 'छह द्रव्य सदा काल, उसके अनंतगुणे (सर्वे गुणे) अनादि-अनंत है और उसकी पर्याय भी अनादि से है और अनंतकाल तक रहेगी।'

२५४—सर्वज्ञेय अनादि से अनंत काल तक होने से अर्थात् सर्वकाल होने से उसको परिपूर्ण जाननेवाला सर्वज्ञज्ञान भी अनादि-अनंत होता है; अनादि-अनंत ज्ञान का धारण करनेवाला सिद्ध भगवान और केवली भगवान है, वह भी अनादि-अनंत है, ऐसा निर्णय करना चाहिये।

२५५—तीर्थंकर भी अनादि से होने से सौ इन्द्र भी अनादि से है और संक्षेप में साररूप ऐसा समझना चाहिए कि ९ तत्त्व प्रवाहरूप से अनादि है और अनंतकाल तक रहते हैं अर्थात् सदाकाल है, है, है।

गोम्मटसार जीवकांड

२५६—अब क्रमानुसार स्थिति अधिकार का वर्णन करते हैं।

छद्दव्वावट्ठाणं सरिसं तियकाल अत्थपज्जाये।
वेजणपज्जायेवा, मिलिदे ताणं ढिदित्तादो॥५८१॥
षड् द्रव्यावस्थानं सदृशं त्रिकालार्थ पर्याये।
व्यंजन पर्याये वा मिलिते तेषां स्थितित्वात्॥५८१॥

अर्थ:—अवस्थान=स्थिति छह द्रव्यों की समान है क्योंकि त्रिकाल संबंधी अर्थपर्याय या व्यंजनपर्याय के मिलने से ही उनकी स्थिति होती है।

परसंबंधी केवलज्ञान में स्याद्वाद से व्यवहारनय (अभूतार्थनय) और निश्चयनय (भूतार्थनय) का प्रवर्तन

२५७—कितने कहते हैं कि सर्वज्ञ व्यवहारनय से पर को जानते हैं और व्यवहारनय अभूतार्थ है, इसलिए भगवान पर को जानते ही नहीं हैं। उस जीव को नय संबंधी सच्चा ज्ञान ही नहीं है। आगम का कथन अनेकांत है; भगवान के 'परसंबंधी' ज्ञान को दो नय लागू पड़ते हैं अर्थात् एक व्यवहारनय और दूसरा निश्चयनय। उससे वे अपरिचित हैं।

२५८—उपरोक्त मान्यता में निम्न प्रकार का महादूषण आता है:—

(१) व्यवहारनय अभूतार्थ है, उसका क्या अर्थ है; वे समझते नहीं हैं।

(२) छद्मस्थ पर को संपूर्णपने जानते नहीं हैं और केवली सर्व को व्यवहारनय से जानते हैं और दोनों कथन का अंतर जानते नहीं और एक ही अर्थ समझ लेते हैं।

(३) उसकी मान्यता जैन आचार्यों के अनुसार नहीं है किंतु सांख्य आचार्यों के अनुसार हैं।

(४) वे समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप आत्मज्ञानमय सर्वज्ञत्वशक्ति को

जानते ही नहीं, इतना ही नहीं किंतु आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति, प्रकाशत्वशक्ति और असंकुचित-विकासत्वशक्ति को जानते ही नहीं हैं।

(५) वे वीतरागदेव द्वारा कहे हुये आत्मा को मानते ही नहीं किंतु वे अन्यमती के द्वारा कहे आत्मा को मानते हैं।

(६) उनकी पर की कर्त्ताबुद्धि और राग की कर्त्ताबुद्धि छूटती ही नहीं है।

(७) जैन आचार्य पर की कर्त्तापने की मान्यता को धारण करनेवाले हैं, ऐसी उनकी श्रद्धा होती है।

इनका विवरण निम्न प्रकार से है:—

(१)

२५९—जिसप्रकार अपने आत्मा को तन्मय होकर भगवान जानते हैं, उसी तरह परद्रव्य के साथ **तन्मय होकर नहीं जानते, भिन्न स्वरूप से जानते हैं, इसलिये व्यवहारनय कहा है। जो तन्मयपने से जाने तो परकीय रागद्वेष और सुख-दुःख का मालिक और कर्त्ताभोक्ता भगवान हो जावे।** ज्ञान करने पर भगवान को परद्रव्य का रागी-द्वेषीपना और सुखी-दुःखीपना आ जावे, यह 'अभूतार्थ' है ऐसा बताने के लिये 'व्यवहारनय' से भगवान पर को जानते हैं, ऐसा कहने में आता है। किंतु वे पर के ज्ञान का (पर को जानने का) अभाव से नहीं; अत: **निज और पर का ज्ञान तो समानरूप से होता है; जैसे अपने को संदेह रहित जानते हैं, वैसा ही पर को भी जानते हैं, इसमें संदेह नहीं है; लेकिन निजस्वरूप से तन्मय है और पर से तन्मय नहीं है** अर्थात् पर से तन्मय होना 'अभूतार्थ' है, ऐसा बताने के लिये पर का ज्ञान व्यवहारनय से है, ऐसा कहा है।

२६०—पर के ज्ञान करने पर भगवान परसंबंधी सुखी-दुःखीपना और रागी-द्वेषीपना होते हों, ऐसा मानने में महादूषण आता है। [देखिये श्री परमात्मप्रकाश गाथा ५२ अध्याय १ संस्कृत टीका, श्री नियमसार गाथा १६६ पृष्ठ ३६६ फुटनोट (श्री परमात्मप्रकाश गाथा ५ संस्कृत टीका)]

२६१—आगम का कथन अनेकांतरूप है—भगवान को परसंबंधी का ज्ञान होता है, उसमें दो नय लागू पड़ते हैं, उसमें से व्यवहारनय का विवेचन ऊपर आ गया है, अब निश्चयनय किसप्रकार लागू पड़ता है, वह बतलाने में आता है:—

२६२—श्री समयसारजी गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि:—

भगवान को पर के सुख-दुःख संवेदन नहीं होने से अर्थात् अभूतार्थ होने से लोकालोक -स्वरूप परद्रव्य का जानना व्यवहार है तो भी 'छद्स्थजन अपेक्षा वह भी निश्चय ही है' उसका कारण यह है कि छद्मस्थ को लोकालोक का ज्ञान युगपत् नहीं होता, और वे कितनीक बातें जानते नहीं हैं। सर्वज्ञ भगवान को विशद-स्पष्टरूप मूर्तिक और अमूर्तिक पदार्थ, स्थूल-सूक्ष्म पर्यायों का ज्ञान होता है, इसलिये केवली भगवान का ज्ञान प्रत्यक्ष और सम्पूर्ण ही है, ऐसा बतलाने के लिये भगवान का ज्ञान छद्मस्थ की अपेक्षा निश्चय है। छद्मस्थ के ज्ञान और केवली के ज्ञान में क्या अंतर है ? इसके लिये देखिये श्री गोम्मटसार जीवकांड गाथा ३६९ पृष्ठ ७९५, ९६।

(२)

२६३—प्रथम कहा ऐसे छद्मस्थ पर को जानते नहीं हैं और भगवान पर को जानते नहीं हैं, ऐसा व्यवहारनय का अर्थ करने से जैनपना छूट जाता है और सांख्यपना आ जाता है। इस विषय में श्री परमात्मप्रकाश गाथा १ में लिखा है कि:—

अब सांख्यमती कहते हैं ''जैसे सोने की अवस्था में, सोते हुए पुरुष को बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मुक्त जीवों को बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता' ऐसे जो सिद्धदशा में ज्ञान का अभाव मानते हैं, उनके प्रतिबोध करने के लिये **तीन जगत, तीन कालवर्ती सब पदार्थों का एक समय में ही जानना है अर्थात् जिसमें समस्त लोकालोक के जानने की शक्ति है, ऐसे ज्ञायकतारूप केवलज्ञान के स्थापन करने के लिये सिद्धों का ज्ञानमय विशेषण किया, वे भगवान नित्य हैं, निरंजन हैं और ज्ञानमय हैं,** ऐसे सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करके ग्रंथ का व्याख्यान करता हूँ''—

श्री सर्वार्थसिद्धि वचनिका में भी कहा है कि कोई **अन्यवादी कहते हैं कि सर्वज्ञ पुरुष आत्मा को ही जानते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ को नहीं जानते हैं,** (अध्याय १, सूत्र २९ पाना २८ श्रुत भंडार ग्रंथ प्रकाशन समिति फल्टन से प्रकाशित)

व्यवहारनय का उल्टा अर्थ करने पर दूसरा यह दोष आता है कि पर का ज्ञान जिसको न हो, उसको आत्मा का पूर्ण ज्ञान भी नहीं होता है। देखिये श्री प्रवचनसार गाथा ४९ की टीका और उसका भावार्थ। उस भावार्थ में लिखा है कि **४८ और ४९वीं गाथा में यह बताया गया है कि जो सबको नहीं जानता, वह अपने को नहीं जानता और जो अपने को नहीं जानता, वह सबको नहीं जानता। अपना ज्ञान और सबका ज्ञान एक साथ ही होता है,** स्वयं और सर्व इन दो में से एक का

ज्ञान हो' और दूसरे का न हो, यह असंभव है।' इसलिए जगत में अल्पज्ञानी और पूर्णज्ञानी ऐसे दो भेद रहते नहीं हैं। और ऐसा भेद नहीं रहने से किसी को **अल्पज्ञ किसकी अपेक्षा कहा जावे ?** श्री पंचास्तिकाय गाथा ८ के अनुसार **सर्व भावों के 'सप्रतिपक्ष' होते ही हैं** और अल्पज्ञानी को सम्पूर्ण ज्ञानी ऐसा प्रतिपक्ष नहीं रहने पर **अल्पज्ञानी का भी अभाव हो जायेगा तो जगत में कोई जीव नहीं रहेगा, ज्ञान गुण भी नहीं रहेगा।**

छद्मस्थ और केवली दोनों के पर के ज्ञान का अभाव हो जायेगा। कैसी विचित्रता ? केवली के पर का परिज्ञान परिपूर्ण है किंतु पर के साथ तन्मयता या एकताबुद्धि नहीं है। कोई सर्वज्ञ न हो तो अन्य अनंत जीव उससे अनंतानंतगुने पुद्गल, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, एक आकाश और असंख्यात कालाणु जिसका विवेचन चारों अनुयोगों में आता है, वह किसने देखा है ? वह तो सब पर है और पर का ज्ञान सर्वज्ञ को होता नहीं है। ऐसी मान्यता का परिणाम यह हुआ कि **सर्व जैन आगम कल्पनामात्र हुआ और सर्वज्ञ का वचन नहीं रहा।**

(३)

२६४—इसका स्पष्टीकरण नम्बर दो में कर दिया गया है। ऐसी झूठी मान्यतावाला जैन नहीं रहा, सांख्य हो गया। सांख्य कहते हैं कि केवली पर को जानते नहीं हैं।

(४)

२६५—आत्मा की शक्तियाँ **सर्वज्ञशक्ति, स्वच्छत्वशक्ति, प्रकाशत्वशक्ति, असंकुचित विकासत्व शक्तियों की** व्याख्या निम्न प्रकार है:—

सर्वज्ञत्वशक्तिः—समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप से परिणमित ऐसे आत्मज्ञान की सर्वज्ञत्वशक्ति।

नोट—'आत्मज्ञानमय' शब्द बड़ा उपयोगी है।

स्वच्छत्वशक्ति

'अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान **लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात् अनेक आकाररूप)** ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी स्वच्छत्वशक्ति (जैसे दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में घटपटादि प्रकाशित होते हैं; उसीप्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से उसके उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।)'

नोट—'लोकालोक के आकार प्रकाशित' यह शब्द बड़ा उपयोगी है।

प्रकाशत्वशक्ति

'स्वयं प्रकाशमान विशद (स्पष्ट) ऐसी स्वसंवेदनमयी (स्वानुभवमयी) प्रकाशत्वशक्ति।'

असंकुचित विकासत्वशक्ति

'क्षेत्र और काल से अमर्यादित ऐसी चिद्विलासस्वरूप (चैतन्य के विलासस्वरूप) असंकुचित-विकासत्वशक्ति' छद्मस्थ की चित्शक्ति संकुचित व्यापारवाली होती है और भगवान की असंकुचित विकास को प्राप्त है, इसलिए वह **ज्ञेयभूत विश्व के सर्व देशों में युगपद् व्यापार करती होने से कथंचित् कूटस्थ होकर, अन्य विषय को प्राप्त न होने से विवर्तन नहीं करती।** वह यह वास्तव में निश्चित **(नियत, अचल) सर्वज्ञपने की और सर्वदर्शीपने की उपलब्धि है।** (देखिये, श्री पंचास्तिकाय, गाथा २८ की टीका) इसलिए **भगवान पर को नहीं जानते हैं, ऐसा माननेवालों ने आत्मा की शक्तियों का इंकार किया है।**

(५)

२६६—वीतरागदेव द्वारा कहे गये प्रत्येक आत्मा असंख्यात प्रदेशी और सर्वज्ञशक्तिमय हैं, ऐसे आत्मा को वह मानते ही नहीं हैं किंतु **बौद्ध, नैयायिक और सांख्य से कहे हुवे 'आत्मा' को वे मानते हैं।** (देखिये श्री प्रवचनसार गाथा ४१ श्री जयसेनाचार्य की टीका का अंतिम भाग तथा श्री परमात्म प्रकाश, गाथा १ की संस्कृत टीका)।

(६)

२६७—जब तक भगवान के द्वारा कहे हुये आत्मा को नहीं माने, तब तक उसका झुकाव **निमित्त तरफ से हटकर आत्मा के सम्मुख हो सकता नहीं है; इसलिए उसको पर की कर्ताबुद्धि, राग की कर्ताबुद्धि और पर से लाभ-नुकसान की बुद्धि कभी छूटेगी नहीं और वह सदाकाल पर समय ही रहेगा।**

(७)

२६८—श्री समयसार के कर्ताकर्म अधिकार में तथा सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में जीव को **पर का कर्ता मानना, यह महान अज्ञानमय अंधकार है, ऐसा कहा है।**

श्री समयसार के कलश ५५ में कहा है कि—

'इस जगत में मोही (अज्ञानी) जीवों का 'परद्रव्य को मैं करता हूँ' ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का **महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार जो अत्यंत दुर्निवार है, वह अनादि संसार से चला आ रहा है×××'**

श्री जयसेनाचार्य श्री समयसार की ८६ गाथा में कहते हैं कि:—**शुभाशुभ कर्म मैं करता हूँ -ऐसा महान अहंकाररूप अंधकार मिथ्याज्ञानियों के नष्ट होता नहीं है।'**

श्री समयसार गाथा ३०८ से ३११ के शीर्षक में आचार्यदेव '**आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टांतपूर्वक कहते हैं**' और टीका के अंत में कहा है कि 'जीव के अजीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिए जीव अकर्ता सिद्ध होता है।'

व्यवहार से भगवान पर को जानते हैं, उसका अर्थ कोई ऐसा करे कि व्यवहार अभूतार्थ है, अत: भगवान पर को जानते ही नहीं हैं तो उसको श्री जैनाचार्यों की श्रद्धा ही नहीं है। आचार्यों के आगम का अर्थ करने की पद्धति वे जानते नहीं हैं—और उसे सर्वज्ञ की-मोक्षतत्त्व की भी श्रद्धा नहीं है।

छ: द्रव्यों की संख्या

२६९—जिसप्रकार छ. द्रव्य सर्वकाल हैं अर्थात् अनादि-अनंत स्वभावसिद्ध हैं। उसीप्रकार उसकी संख्या भी निश्चित है। सब द्रव्य अनादि-अनंत होने से उसकी संख्या सर्वकाल एक ही प्रकार रहती है, उसमें कुछ कम-ज्यादा नहीं होती है अर्थात् घटाना-बढ़ाना नहीं होता है इसलिए उसकी संख्या सर्वकाल निश्चित ही रहती है। वह संख्या भी श्री गोम्मटसार जीवकांड की गाथा ५८८ में आई है निम्न प्रकार है:—आकाश एक, धर्मास्तिकाय एक, काल द्रव्य लोक प्रमाण असंख्यात, जीव अनंत और पुद्गल उससे अनंत गुणा है।

जीव की अनंत संख्या कितनी है, वह श्री त्रिलोकसार की गाथा ६९ में आया है। संख्या दो प्रकार की होती है (१) मर्यादित (२) अमर्यादित—इसका स्पष्टीकरण श्री त्रिलोकसार में विस्तार से कहा है, वहाँ से पढ़ लेना चाहिये।

लोक अनादि-निधन

२७०—यह लोक अनादि-अनंत है। इसको किसी भी पुरुष ने बनाया नहीं, कोई भी इसका नाश कर सकता नहीं, किसी ने इसको धारण किया नहीं और कोई भी इसकी रक्षा करता नहीं है। इस लोक में जो जीवादि पदार्थ हैं, वह भिन्न-भिन्न अनादि-निधन हैं। उसकी अवस्था का बदलना हर समय हुआ ही करता है—इस अपेक्षा में उसको उत्पाद-व्यय कहते हैं। स्वर्ग, नरक, द्वीपादिक हैं, वे अनादि से इसीप्रकार हैं और सदाकाल ऐसे ही रहेंगे। जीवादिक या स्वर्गादिक स्वयंसिद्ध हैं। संसार में जीव है। उसीप्रकार यथार्थ ज्ञान द्वारा मोक्षमार्गरूपी साधन से, सर्वज्ञ-वीतराग होते हैं, तब

उनको परमब्रह्म कहने में आता है। इस जगत का कोई भिन्न कर्ता परमब्रह्म नहीं। (देखिये श्री मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ५ पृष्ठ १६० हिन्दी देहली प्रकाशित) उसमें ऐसा भी कहा है कि **'अनादि से जो प्राप्त है, वहाँ तर्क क्या ?'**

२७१—**प्रश्न**—इस असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनंत जीव रहते हैं, उससे अनंत गुणा पुद्गल रहते हैं, लोकाकाश के असंख्य प्रदेशों के बराबर असंख्यात कालाणु रहते हैं, तथा पूरे लोकाकाश में धर्म और अधर्म भी व्याप्त हैं तो इस छोटे प्रमाणवाले लोकाकाश में इतने अनंत द्रव्य किसप्रकार रह सकते हैं ?

उत्तर—(१) जिसप्रकार एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, (२) जिसप्रकार तेजाब विशेष से भरा हुआ शीशे के पात्र में बहुत सा सोना अवकाश पाता है (३) जिसप्रकार दूध के भरे हुवे घड़े में उसके प्रमाण में राख (भस्म) और सुईयाँ बराबर समा जाती हैं। उसीप्रकार आकाशद्रव्य की विशिष्ट अवकाशदानशक्ति से ऊपर कहे हुवे अनंत द्रव्य भी लोकाकाश में समा जाते हैं; और उनके रहने में किसी भी प्रकार से कठिनाई आती नहीं।

आकाशद्रव्य स्वयं अमूर्त है, उससे अमूर्त में अनंत अमूर्त जीव, वैसे ही धर्म-अधर्म द्रव्य तथा कालाणु (जो अमूर्त हैं वे) निराबाध अवकाश पाते हैं, पुद्गल भी दो प्रकार के हैं:—सूक्ष्म तथा स्थूल, अनंत बहुभाग पुद्गल सूक्ष्मरूप ही आकाश में व्याप्त हैं, जो थोड़े भाग के स्थूल पुद्गल स्कंध हैं, वे लोकाकाश में समा सकते हैं।

अवकाशदान नहीं मानने में दोष—

जो इसप्रकार की अवकाशदान शक्ति नहीं होती तो लोक के असंख्यात प्रदेशों में असंख्यात परमाणुओं का ही निवास होता और ऐसा होता तो सर्व जीव जिसप्रकार शुद्ध निश्चय शक्तिरूप निरावरण तथा शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं, उसीप्रकार व्यक्तिरूप व्यवहारनय भी हो जाते किंतु ऐसा नहीं होता है क्योंकि इसप्रकार मानने में प्रत्यक्ष का और आगम का विरोध है। (देखिये, बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ५२ तथा पंडित हीरालालजी कृत द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ ६६, ६७)

'इसप्रकार यथार्थ श्रद्धान द्वारा सर्व पदार्थ अकृत्रिम भिन्न-भिन्न अनादिनिधन मानना, जो निरर्थक भ्रम द्वारा सच्चे झूठे का निर्णय जीव नहीं करे तो वह जाने, कारण कि उसके श्रद्धान का फल वही पाता है।' (देखिये, श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ५, पृष्ठ १६१ देहली प्रकाशित हिन्दी)

२७२—आगे जो द्रव्य कहे, उनके विशेष जानने को सूत्र कहते हैं:—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५)

इसका अर्थ:—जो द्रव्य कहे, वह नित्य हैं, अवस्थित हैं, अरूपी हैं। **यहाँ नित्य को ध्रुव कहते हैं।** क्योंकि 'नि' ऐसा धातु का ध्रुव अर्थ विषें नित्य शब्द निपजाया है। वे धर्मादिक द्रव्य हैं, वह गतिहेतुत्व आदि विशेष लक्षण से तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षण से द्रव्यार्थिकनय के आदेश से **कोई ही कालविषें व्यय कहिये नाश स्वरूप नहीं होते हैं, इसलिए नित्य हैं।** नित्य का लक्षण आगे के सूत्र में तद्भावाव्ययं नित्यं ऐसा कहेंगे और यह द्रव्य इतने ही हैं, ऐसी **संख्या को नहीं छोड़ते हैं, इसलिये अवस्थित कहते हैं।** धर्मादिक छह द्रव्य हैं, ऐसी संख्या को नहीं उलंघन करते हैं। यहाँ भी सामान्य-विशेषलक्षणरूप द्रव्यार्थिकनय लगाना और जिनके रूप विद्यमान नहीं हैं, उनको अरूपी कहिये। यहाँ रूप के निषेध से उसके सहचारी जो रस, गंध, स्पर्श उनका निषेध जानना, इससे यह द्रव्य अरूपी कहिये अमूर्तिक हैं।

यहाँ प्रश्न—जो नित्य और अवस्थित इन शब्दों का अर्थ का विशेष नहीं जाने, वही कहते हैं—**जो द्रव्यविषें अनेक धर्म हैं, वे द्रव्यपणा से सदा विद्यमान हैं, इसलिये यह तो नित्य शब्द का अर्थ है। और द्रव्यविषें विशेष लक्षण हैं, उसको कभी भी छोड़ते नहीं हैं, चेतन से अचेतन होता नहीं है—अमूर्तिक से मूर्तिक होता नहीं है, इसलिये द्रव्यों के संख्या की व्यवस्था है, यह व्यवस्थित का अर्थ है।**' देखिये श्री सर्वार्थसिद्धि वचनिका टीका अध्याय ५, पृष्ठ २०८।

प्रश्न २

२७३—**प्रश्न**—[अ] सर्वज्ञ समस्त द्रव्यों के आदि और अंत को जानते हैं या नहीं ?

[ब] समस्त जीवों की संख्या जानता है या नहीं ?

[क] यदि जानता है तो अनादि-अनंत, अनंतानंत आदि शब्दों का क्या अर्थ है ?

[ड] और वह सर्वज्ञ की अपेक्षा है या अल्पज्ञ की अपेक्षा ?

२७४—**उत्तर**—(१) यह प्रश्न **गणित का और लोकरचना का होने से करणानुयोग का विषय है। 'जो उपदेश को जीव यथावत् न पहिचाने तो वह अन्यथा मानकर विपरीत प्रवर्तन करता है'** (मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ८, पृष्ठ ३९३) **इसलिये उसका स्वरूप संक्षेप में दिया जाता है।** वह स्वरूप निम्नप्रकार है—'छद्मस्थ का उपयोग निरंतर एकाग्र नहीं रहता है, इसलिये

ज्ञानी पुरुष करणानुयोग के अभ्यास से अपने उपयोग को लगाते हैं, **जिससे केवलज्ञान द्वारा जाने गये पदार्थों का जानपना उसको होता है, भेद यहाँ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का ही है, परंतु भासने में विरुद्धता नहीं है।**' (देहली–मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ८, पृष्ठ ३९६)

(२) जो जीव सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं और **सर्वज्ञ के मानने का दावा करने पर सर्वज्ञ के स्वरूप से अज्ञात हैं, ऐसे सभी जीव अनादि से ऐसा कुतर्क उठाते रहते हैं** और ज्ञानी पुरुष उनकी अज्ञानता टालने के लिये आगम में समाधान करते रहते हैं। भगवान अकलंकदेव मुनींद्र जो तर्ककमल का सूर्य के रूप में प्रसिद्ध है, वह ऐसे (प्रश्नकार जैसा) कुतर्कवादिओं का तर्क किसप्रकार मिथ्या है, यह तत्त्वार्थ राजवार्तिक में बड़े विस्तार से कहते हैं, वह निम्नप्रकार हैं।

देखो—पंडित मक्खनलालजी का अनुवाद तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय ५वाँ, सूत्र ८, वार्तिक–२, पृष्ठ १०४ में 'तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्व प्रसंग इति चेन्न, तेनात्मनाऽवसितत्त्वात् ॥२॥

(३) 'धर्म, अधर्म और आकाश के प्रदेशों की संख्या नहीं की जा सकती, इसलिए वे असंख्येय है। यदि असंख्येय शब्द का अर्थ यह किया जायेगा, तब फिर **सर्वज्ञ भी उनको नहीं जान सकता,** इसलिये धर्म आदि के जाने बिना समस्त पदार्थों का ज्ञान न होने के कारण सर्वज्ञपना नहीं सिद्ध हो सकता? सो ठीक नहीं। **जो पदार्थ जिसरूप से विद्यमान हो, उसे उसीरूप से जानना सर्वज्ञ का सर्वज्ञपना कहा जाता है, जिसतरह आकाश प्रदेशों की अपेक्षा अनंत हैं और सर्वज्ञ उसे अनंतरूप से ही जानता है,** तथापि उसके सर्वज्ञपना नाश नहीं होता; उसीप्रकार असंख्येय है, उसे असंख्येयरूप से जानने पर कभी सर्वज्ञपने की हानि नहीं हो सकती क्योंकि **जो पदार्थ जिसरूप से अवस्थित है, उसे उसीरूप से सर्वज्ञ यथार्थज्ञ होने के कारण जानता है, इसलिये पदार्थ दूसरे रूप से स्थित हों, और जाने दूसरे रूप से, वह सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता;** इस रीति से यह बात सिद्ध हुई कि प्रदेशों की अपेक्षा धर्म, अधर्म आदि असंख्येय पदार्थों को असंख्येय रूप से जानने पर भी सर्वज्ञ का सर्वज्ञपन नष्ट नहीं हो सकता।'

(४) तथा सूत्र ९ का वार्तिक तीसरे में पृष्ठ ११० में लिखा है कि 'अनन्तत्वादपरिज्ञानमिति चेन्नातिशयज्ञानदृष्टत्त्वात्' ॥३॥

जो पदार्थ अनंत है, उसका सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा **परिछिन्न अर्थात् प्रमाण किया जा सकता है या अपरिछिन्न अर्थात् नहीं प्रमाण किया जा सकता है? यदि कहा जायेगा कि वह सर्वज्ञ के ज्ञान से परिछिन्न है, तब उसका अंत सिद्ध हो गया। इसलिये अनंत स्वरूप पदार्थ का अनंतपना नहीं**

बनता; यदि कहा जायेगा कि वह सर्वज्ञ के ज्ञान से परिछिन्न नहीं है, तब उसका अखंडता से स्वरूप न जानने के कारण सर्वज्ञ को असर्वज्ञ कहना होगा। इस रीति से अनंत पदार्थ का ज्ञान न होने के कारण कोई भी पदार्थ अनंत नहीं माना जा सकता ? सो ठीक नहीं।

सर्वज्ञ का और श्रुतज्ञानी का ज्ञान समान है

केवली भगवान के जो क्षायिकज्ञान होता है, वह अतिशयवान और अनंतानंत परिमाणवाला होता है, इसलिये जब यह अनंतानंत परिमाणवाला है, तब वह अनंत स्वरूप पदार्थ को स्पष्टरूप से जान सकता है तथा अतिशय ज्ञान के धारक सर्वज्ञ के उपदेश से अन्य लोक भी अनंत स्वरूप पदार्थ को अनुमान के द्वारा जान सकते हैं, इसलिये सर्वज्ञपने की हानि नहीं हो सकती।

परिछिन्न का अर्थ सांत करने से अनंतपने का अभाव नहीं होता है।

यदि यहाँ पर यह कहा जाये कि परिछिन्न का अर्थ सांत है। जो पदार्थ सर्वज्ञ के ज्ञान से परिछिन्न हो चुका, वह सांत ही कहा जायेगा, अनंत नहीं कहा जा सकता। इसलिये आकाश को जो सर्वज्ञ के ज्ञान से परिछिन्न होने से भी अनंत माना है, वह मिथ्या है ? सो भी ठीक नहीं। जो पदार्थ अनंत है, वह अनंतस्वरूप से ही सर्वज्ञ के ज्ञान में झलकता है अर्थात् वे अनंत को अनंतस्वरूप से ही जानते हैं, इसलिये अनंत पदार्थ परिछिन्न होने से सांत नहीं कहा जा सकता।'

(५) तथा राजवार्तिक सूत्र ९ का वार्तिक ४, पृष्ठ १२१ में लिखा है कि 'सर्वेषामविप्रतिपत्तेः ॥४॥

सिर्फ जैन सिद्धांतकार ही आकाश आदि पदार्थों को अनंत स्वरूप नहीं मानते और दूसरे अनेक सिद्धांतकारों ने भी पदार्थ अनंतस्वरूप मान रखे हैं। इसलिये अनंत पदार्थ भी सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं अर्थात् वे ज्ञान में सांत होने पर भी अनंत ही रहते हैं। और सर्वज्ञ की सर्वज्ञता में भी कोई हानि नहीं आती, जिस तरह कोई कोई अर्थात् चार्वाक लोग मानते हैं कि लोक धातु अर्थात् लोक के कारण स्वरूप पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातुएँ अनंत हैं। नैयायिक और वैशेषिकों का कहना है कि दिशा, काल, आत्मा और आकाश ये सर्वत्र व्यापक हैं, इसलिये अनंत हैं। सांख्य सिद्धांतकारों का कहना है कि प्रकृति और पुरुष दोनों पदार्थ सर्वत्र व्यापक हैं, इसलिये वे अनंत हैं। इसतरह यदि अनंत स्वरूप पदार्थ को माननेवालों पर आक्षेप किया जायेगा तो जैन सिद्धांत पर ही नहीं किंतु अन्य सिद्धांतों पर भी आक्षेप किया जायेगा। यहाँ पर यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिये कि जिन उपर्युक्त सिद्धांतकारों ने लोकधातु आदि पदार्थ अनंत माने हैं, **वे यह स्वीकार नहीं**

करते कि पदार्थों को अनंत माने जाने पर कहीं भी अंत न मिलने के कारण उनका ज्ञान नहीं होगा।

सांत का अर्थ और ऐसा करने का कारण

अथवा दिव्यज्ञानियों के ज्ञान से उनका ज्ञान होता है; इसलिये वे अंतसहित अर्थात् सांत हैं किंतु अनंत मानकर भी वे उनका दिव्य ज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से प्रत्यक्ष मानते हैं। इसलिये ऊपर जो आकाश के अनंत स्वरूप पर जैन सिद्धांतकार के ऊपर यह कटाक्ष किया गया था कि यदि **किसी पदार्थ को अनंतस्वरूप माना जायेगा तो उसके अंत का निश्चय न होने से उसका ज्ञान न हो सकेगा, वह अयुक्त है।**

तथा यह भी बात है कि—

इसी अध्याय के इसी सूत्र के वार्तिक ५ में लिखा है कि 'सर्वज्ञाभावप्रसंगाश्च' ॥५॥

ज्ञेयपदार्थ अनंत नहीं सांत है, वह मान्यता झूठ है

जो वादी यह मानता है कि अनंतपना ज्ञान के अभाव में कारण है अर्थात् जो जो अनंतस्वरूप पदार्थ होगा, उसका अखंडरूप से ज्ञान न हो सकेगा, उसके मत में सर्वज्ञ पदार्थ सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि ज्ञेय—ज्ञान के विषयभूत पदार्थों को अनंत माना गया है, इसलिये अनंत होने के कारण उनका कोई भी जाननेवाला सिद्ध न होगा। यदि यह कहा जायेगा कि ज्ञेय पदार्थ अनंत नहीं, सांत हैं तो उनका अंत रहने से संसार का अभाव होगा तथा संसार के अभाव में मोक्ष का भी अभाव होगा।

खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

समस्त ज्ञेय पदार्थों में **यदि जीवों को सांत अर्थात् अंत सहित माना जायेगा तो एक न एक दिन सबका मोक्ष हो जाने पर संसार का अभाव हो जायेगा।** यदि यहाँ पर यह माना जाये कि जो जीव मोक्ष जाते हैं, वे वहाँ से लौटकर फिर संसार में आ जाते हैं, फिर संसार से मोक्ष जाते हैं, फिर वहाँ से लौटकर संसार में आ जाते हैं, इस रूप से संसार का कभी भी नाश नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। **यदि मोक्ष गये हुये जीवों का लौटना माना जायेगा तो फिर उनकी मोक्ष अवस्था ही न बन सकेगी, क्योंकि सभी सिद्धांतकारों ने आत्यंतिक अवस्था का नाम मोक्ष माना है। आत्यंतिक अवस्था का अर्थ यह है कि उसके बाद फिर जीव की कोई सांसारिक अवस्था नहीं होती।** यदि मोक्ष के बाद फिर संसार में आना पड़ा तो मोक्ष आत्यंतिक अवस्था नहीं ठहर सकती, इसलिये मोक्ष जाकर फिर लौट आना मानने पर जीवों को मोक्ष नहीं सिद्ध हो सकता।

सांत का विशेष स्पष्टीकरण

तथा एक-एक जीव में कर्म-नोकर्म आदि स्वरूप से अनंत पुद्गलों की स्थिति मानी है, यदि इन पुद्गलों को सांत माना जायेगा तो उनका जो कर्मस्वरूप वा नोकर्मस्वरूप भेद है, वह न बन सकेगा क्योंकि कर्म-नोकर्मस्वरूप परिणत होते-होते उनका अंत ही हो जायेगा अर्थात् जितने परमाणु हैं, वे सभी कर्म-नोकर्म बनकर समाप्त हो जायेंगे, कर्म-नोकर्म का नाम ही संसार है। यदि कर्म-नोकर्मरूप पदार्थों की सिद्धि न होगी तो संसार का ही अभाव हो जायेगा। संसार की विद्यमानता में मोक्ष की सत्ता मानी गयी है। जब संसार का ही अभाव हो जायेगा, तब मोक्ष पदार्थ की भी सिद्धि न हो सकेगी।

सर्वज्ञ समस्त द्रव्यों के आदि और अंत को जानता है या नहीं ? उसकी स्पष्टता

तथा जब सब ही ज्ञेय पदार्थ अंतवान—अंतसहित हैं, तब अतीत काल और भविष्यत काल का भी अंत मानना होगा। इस तरह अतीत काल के और भविष्यत काल के पहिले और पीछे काल का व्यवहार भी न हो सकेगा, क्योंकि जब उनका अंत है, तब उनकी आदि भी अवश्य माननी पड़ेगी। इसलिये जहाँ से अतीत काल का प्रारंभ हुआ है, उसके पहले एवं जहाँ भविष्य काल का अंत हुआ है, उसके पीछे किस पदार्थ को काल के नाम से पुकारा जायेगा ? यदि कहा जायेगा कि वहाँ पर नवीन कालद्रव्य की उत्पत्ति मान लेंगे; इसलिये काल का व्यवहार बाधित नहीं हो सकेगा, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जो पदार्थ असत्-अविद्यमान है, उसकी तो सर्वथा उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो पदार्थ सत्-विद्यमान है, उसका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता, यह सिद्धांत-सिद्ध बात है। जब भूत और भविष्यत् काल के आदि और अंत में काल पदार्थ विद्यमान ही नहीं, तब उसकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। तथा—यदि आकाश को सांत पदार्थ माना जायेगा, तब जहाँ तक आकाश है, वहाँ तक तो वह है ही। किंतु जहाँ जाकर उसका अंत होगा, उसके बाद किसी ठोस पदार्थ की मौजूदगी माननी पड़ेगी। यदि कहा जायेगा जहाँ आकाश का अंत है उसके आगे कोई ठोस पदार्थ नहीं है, तब वहाँ आकाश ही मानना पड़ेगा। इसलिये यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि आकाश का अंत नहीं, वह अनंतस्वरूप ही पदार्थ है। जब यह बात अनेक युक्तियों से सिद्ध हो चुकी है कि अनंत स्वरूप भी पदार्थ का सर्वज्ञ के ज्ञान से प्रत्यक्ष होता है, तब अनंत होने से उसका परिज्ञान नहीं होगा अथवा यदि परिज्ञान होगा तो वह सांत कहना पड़ेगा, इस तरह जो ऊपर कुतर्क उठाई गई थी, वह सब मिथ्या है।

२७५—ऊपर के आधार से दूसरे प्रश्न का अ, ब, क का जबाव स्पष्ट आ जाता है।

२७६—**प्रश्न**—ड—और वह सर्वज्ञ की अपेक्षा है या अल्पज्ञ की अपेक्षा ?

उत्तर—इस प्रश्न से मालूम पड़ता है कि अल्पज्ञ का सम्यक् श्रुतज्ञान और सर्वज्ञ के ज्ञान में वस्तु का स्वरूप बड़ा विरुद्ध है, ऐसा प्रश्नकार मानते हैं। किंतु वस्तुस्वरूप ऐसा है कि छः द्रव्य आगम की अपेक्षा, वस्तुस्वरूप की अपेक्षा, श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनादि-अनंत हैं और केवलज्ञान की अपेक्षा भी ऐसा है।

देखिये श्री प्रवचनसार गाथा ९८ की टीका, पृष्ठ १२२ में लिखा है कि '**वास्तव में द्रव्यों से द्रव्यांतरों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वभाव-सिद्ध हैं।** (उनकी) **स्वभाव-सिद्धता तो उनकी अनादि-निधनता से है।**'

२७७—श्री प्रवचनसार, गाथा ४९ की (जयसेनाचार्य कृत) संस्कृत टीका, पृष्ठ ६५ में और उसकी भाषा टीका नीचे अनुसार है।

'यदि ऐसा है तो जब छद्मस्थों को सर्व का ज्ञान नहीं है, तब उनको आत्मा का ज्ञान कैसे होगा ? यदि उनको आत्मा का ज्ञान न होगा तो उनके आत्मा की भावना कैसे होगी ? यदि आत्मा की भावना न होगी तो उनको केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी ? ऐसा होने से कोई केवलज्ञानी नहीं होगा। **इस शंका का समाधान करते हैं कि परोक्ष प्रमाणरूप श्रुतज्ञान से सर्व पदार्थ जाने जाते हैं, यह कैसे ? सो कहते हैं कि छद्मस्थों को भी लोक और अलोक का ज्ञान व्याप्ति ज्ञानरूप से है। वह व्याप्ति ज्ञान परोक्षरूप से केवलज्ञान के विषय को ग्रहण करनेवाला है।**'

ऐसा ही अभिप्राय भगवान श्री समंतभद्राचार्य का आप्तमीमांसा नामक दर्शन शास्त्र सूत्र १०५ में निम्न प्रकार आया है।

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्व तत्त्वे प्रकाशने।

भेदः सक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम् भवेत्॥ अष्टसहस्री दशमः परिच्छेद १०५

अर्थ—**स्याद्वाद जो श्रुतज्ञान और केवलज्ञान, यह दोनों सर्व तत्त्वों को प्रकाश करनेवाले हैं, भेद इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है। वस्तुरूप से यह दोनों एक दूसरे से अन्यरूप नहीं हैं।**

इस विषय में पंडित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में, सस्ती ग्रंथमाला का हिन्दी मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५१२ में आया है।

२७८—श्री प्रवचनसार जयसेनाचार्य कृत हिन्दी टीका, भाग ३ गाथा ५५ की टीका पृष्ठ २०२

में भी ऊपर के अनुसार नीचे के शब्दों में लिखा है कि 'विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी परमात्मपदार्थ को लेकर सर्व ही पदार्थ तथा उनके सर्व गुण और पर्याय परमागम के द्वारा जाने जाते हैं; क्योंकि **श्रुतज्ञानरूप आगम केवलज्ञान के समान है।** आगम द्वारा पदार्थों का ज्ञान होने पर जब स्वसंवेदन ज्ञान या स्वात्मानुभव पैदा हो जाता है, तब उस स्वसंवेदन के बल से जब केवलज्ञान पैदा होता है, तब वे ही सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। **इस कारण से आगम के चक्षु से परम्परा सर्वज्ञ ही दिख जाता है। इसी गाथा के भावार्थ में कहा है कि**—जैसे केवलज्ञानी सर्व पदार्थों को जानते हैं, वैसे श्रुतज्ञानी सर्व पदार्थों को जानते हैं। केवल अंतर यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है, केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

२७९—श्री प्रवचनसार गाथा २३२ की टीका में श्री अमृतचंद्राचार्यजी ने इस विषय को पृष्ठ २८४ में नीचे के शब्दों में स्पष्ट किया है कि 'वास्तव में आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं किया जा सकता; क्योंकि आगम ही जिसके त्रिकाल (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप) तीन लक्षण प्रवर्तते हैं, ऐसे **सकल पदार्थ सार्थ के यथातथ्य ज्ञान द्वारा** सुस्थिर अंतरंग से गम्भीर है (अर्थात् आगम का ही अंतरंग, सर्व पदार्थों के समूह के यथार्थ ज्ञान द्वारा सुस्थित है। इसलिये आगम ही **समस्त पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से गंभीर है।**)

२८०—तथा गाथा २३४, पृष्ठ २८८ में लिखा है कि अब उस (सर्वतःचक्षुत्व) की सिद्धि के लिये भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते हैं। यद्यपि ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक मिलन हो जाने से **उन्हें भिन्न करना अशक्य है (अर्थात् ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात न हो, ऐसा करना अशक्य है)** तथापि, वे उस आगमचक्षु से स्व-पर का विभाग करके, जिनने महामोह को भेद डाला है, ऐसे वर्तते हुए, परमात्मा को पाकर, सतत् ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं। तथा गाथा २३५ पृष्ठ २८९ में लिखा है कि प्रथम तो, **आगम द्वारा सभी द्रव्य प्रमेय (ज्ञेय) होते हैं, क्योंकि सर्व द्रव्य विस्पष्ट तर्कणा से अविरुद्ध हैं,** (सर्वद्रव्य आगमानुसार जो विशेष स्पष्ट तर्क उसके साथ मेलवाले हैं, अर्थात् वे आगमानुसार विस्पष्ट विचार से ज्ञात हो ऐसे हैं) और फिर आगम से वे द्रव्य विचित्र गुणपर्यायवाले प्रतीत होते हैं, क्योंकि आगम को सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मों में व्यापक (अनेक धर्मों को कहनेवाला) **अनेकांतमय होने से प्रमाणता की उपपत्ति है** (अर्थात् आगम प्रमाणभूत सिद्ध होता है) **इससे सभी पदार्थ आगमसिद्ध ही हैं और वे श्रमणों को स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं,** क्योंकि श्रमण विचित्र गुणपर्यायवाले सर्व द्रव्यों में व्यापक (सर्व द्रव्यों को जाननेवाले) **अनेकांतात्मक श्रुतज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं।** इससे (यह कहा है कि) **आगम चक्षुओं को**

(आगमरूप चक्षुवालों को) कुछ भी अदृश्य नहीं है।

श्री समयसार कलश २ के भावार्थ, पृष्ठ ३ में लिखा है कि 'सम्यग्ज्ञान ही सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है, जिसमें समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होता है। वह अनंत धर्म सहित आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये वह सरस्वती की मूर्ति है, और—

केवलज्ञान के अनुसार श्रुतज्ञान है

उसी के अनुसार जो श्रुतज्ञान है, वह आत्मतत्त्व को परोक्ष देखता है, इसलिये वह भी सरस्वती की मूर्ति है और द्रव्यश्रुत वचनरूप है, वह भी उसकी मूर्ति है, क्योंकि वह वचनों के द्वारा अनेक धर्मवाले आत्मा को बतलाती है, **इसप्रकार समस्त पदार्थों के तत्त्व को बतानेवाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वती की मूर्ति है।**

२८१—**प्रश्न—२[ड]** के पढ़ने से मालूम होता है कि **सर्वज्ञ की अपेक्षा वस्तु का स्वरूप एक प्रकार का है और अल्पज्ञ की अपेक्षा दूसरे प्रकार का है, ऐसा प्रश्नकार का कहना है** किंतु वह मिथ्या है-ऐसा सिद्ध हुआ, और—

२८२—**प्रश्न—२ [अ]** में समस्त द्रव्यों के आदि-अंत हैं, ऐसा सर्वज्ञ देखते हैं और उनका (समस्त द्रव्यों का) आदि-अंत न हो तो वह सर्वज्ञ नहीं होगा, ऐसा प्रश्नकार कहना चाहते हैं; वह मान्यता झूठ है, ऐसा भी सिद्ध हुआ।

२८३—**प्रश्न—२[ब]** से मालूम पड़ता है कि भगवान सर्वज्ञ समस्त जीवादि की **संख्या को नहीं जानता क्योंकि उसके ज्ञान में प्रदेशों की संख्या नहीं की जा सकती अथवा संख्या कहने से उसका अंत सिद्ध हो गया, इसलिये अनंत स्वरूप पदार्थ का अनंतपना नहीं बन सकता, ऐसी प्रश्नकार की मान्यताएँ वे सब झूठी हैं,** ऐसा भगवान अकलंकदेव का जो कथन ऊपर कहने में आया है, इससे बिलकुल स्पष्ट है, इस विषय में अंत का अर्थ 'परिपूर्णरूप से' ऐसा होता है। श्री प्रवचनसार में जयसेनाचार्य ने गाथा १५ की टीका पृष्ठ १९ में 'अंत' शब्द की स्पष्टता निम्न शब्दों में की है कि—

''सजगत्रय-कालत्रयवर्ती समस्त वस्तु गतानंत धर्माणां युगपत्प्रकाशकं केवलज्ञानं प्राप्नोति ततः स्थितं शुद्धोपयोगात्सर्वज्ञो भवतीति''

२८४—देखिये यहाँ **'अंत' शब्द का अर्थ वस्तु के अनंत धर्मों का एक साथ जानना, ऐसा**

करने में आया है, परंतु अनंत धर्मों का 'अंत' रूप से देखना, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा अर्थ करने में आवे तो **वह ज्ञान केवलज्ञान न रहकर मिथ्याज्ञान हो जावेगा।**

प्रश्नकार 'अंत' का अर्थ संख्या अपेक्षा से और काल अपेक्षा से 'अंत' ऐसा करना चाहते हैं परंतु 'अंत' का अर्थ यह है कि **भगवान ने समस्त वस्तुओं को परिपूर्णरूप से जान लिया और कुछ बाकी नहीं रहा है; यह स्पष्ट करने के लिये श्री प्रवचनसार गाथा ३२ में स्वयं श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि 'केवलज्ञानी निरवशेषरूप से सबको (सम्पूर्ण आत्मा को, सर्व ज्ञेयों को) सर्व ओर से देखते जानते हैं'** तथा भावार्थ में लिखा है कि **'उन्हें कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।'**

२८५—श्री प्रवचनसार गाथा १९८ की टीका में 'अंत' शब्द का अर्थ भगवान अमृतचंद्राचार्य ने—**'ज्ञान से भरपूर होने के लिये ऐसा किया है'** इससे सिद्ध हुआ कि यहाँ 'अंत' शब्द का अर्थ **'ज्ञान से भरपूर'** होता है।

२८६—अब विचारिये-भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में समस्त द्रव्यों का आदि-अंत दिखाते हो तो सब द्रव्यों को 'अनादि-अनंत' श्री प्रवचनसार गाथा ९८ में क्यों कहा? श्रुतज्ञान में अनादि-अनंत और केवलज्ञान में सादि-सांत भासित है, ऐसा मानने में बड़ा विरोध आता है।

२८७—जो जीवों की संख्या भगवान ने बतलाई, वह उसके ज्ञान में न हो तो कहाँ से और कैसे बताई? **'संख्या'** करणानुयोग का विषय है और करणानुयोग में जीवादि द्रव्यों का प्रमाण (परिमाण) निरूपण किया है, **वह निश्चय वर्णन है,** इसलिए पृथक्-पृथक् इतने ही द्रव्य हैं, सो यथासंभव जानना चाहिए। (देखिये मोक्षमार्गप्रकाशक, हिन्दी अध्याय आठवाँ, पृष्ठ ४०४)

२८८—'संख्या' का विषय, केवलज्ञान का विषय नहीं हो सकता—ऐसा मानकर अनादि, अनंत, अनंतानंत आदि शब्दों का क्या अर्थ है ऐसा प्रश्न करके, प्रश्नकार **छः द्रव्यों का काल अनादि-अनंत है, ऐसा नहीं मानते हैं और अनंतानंत संख्या को भी नहीं मानते, इसलिये सर्वज्ञ के स्वरूप की उनकी सब मान्यता विपरीत है।** वे वास्तव में अरहंत को ही नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार श्रुतज्ञान और केवलज्ञान के भावभासन में विरुद्धता भासती है अर्थात् केवलज्ञान के अनुसार भावश्रुतज्ञान नहीं है, केवलज्ञान के अनुसार आगम नहीं है, ऐसा वे मानते हैं।

२८९—श्री पंचास्तिकाय गाथा ३ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शब्दरूप, अर्थरूप, ज्ञानरूप तीन प्रकार का 'समय' बतलाया है, **उसको वे नहीं मानते हैं। 'ज्ञानसमय की प्रसिद्धि के लिये शब्दसमय के संबंध से अर्थसमय कहने में आता है' ऐसा भी वे नहीं मानते।**

२९०—इसप्रकार वे भगवान की आज्ञानुसार जीव-अजीवादि किसी भी द्रव्यों को नहीं मानते, यह उनकी जीव-अजीवतत्त्व की भूल है। जो जीव की तथा अजीव की जाति न जाने, आपा-पर कों न पहिचाने **तो पर विषै रागादिक कैसे न करे ?** रागादिक कों न पहिचाने तो **तिनका त्याग कैसे किया चाहै; सो रागादिक ही आस्रव है। रागादिक का फल बुरा न जानै तो काहे को रागादिक छोड्या चाहे। सो रागादिक का फल सो ही बंध है।** बहुरि रागादिक रहित परिणाम को पहिचाने तो तिसरूप हुआ चाहै; सो रागादि रहित परिणाम का नाम ही संवर है। पूर्व संसार अवस्था को निमित्त कारण कर्म है, ताकी हानि सोई निर्जरा है। बहुरि संसार अवस्था का अभाव को न पहिचाने, तो संवर-निर्जरा रूप काहे को प्रवर्ते। संसार अवस्था का अभाव सो ही मोक्ष है, तातैं सातों तत्त्वनिका श्रद्धान भये ही रागादिक छोड़ो शुद्धभाव होने की भावना ऊपजै है। जो इन विषै एक भी तत्त्व का श्रद्धान न होय तो ऐसी भावना न ऊपजै। (देखिये, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९, पृष्ठ ४७२)

जिसको जीव-अजीव की भूल है, उसके सब तत्त्वों की भूल होती ही है।

प्रश्न का समग्र जबाव

२९१—अ—समस्त द्रव्य स्वभावसिद्ध होने से सर्वकालीन हैं, इसलिये वह अनादि-अनंत हैं, ऐसा सर्वज्ञ जानते हैं, [देखिये, भूमिका, तथा श्री प्रवचनसार गाथा ९५ से ९८ टीका तथा श्री गोम्मटसार गाथा ५८१ टीका पाना २७६, २७७ (अगास से प्रकाशित), श्री तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ४ टीका श्री सर्वार्थसिद्धि वचनिका, पृष्ठ २०८, उपसंहार में भी इसका स्पष्टीकरण है।]

उसका आदि-अंत है ही नहीं तो कहाँ से सर्वज्ञ जाने ? द्रव्यों का आदि-अंत माननेवाला पर समयी है, श्री प्रवचनसार गाथा ९८; श्री अकलंकदेव राजवार्तिक और श्रीधवल में ऐसा कहा है, (देखिये, भूमिका, प्रश्नों का विवरण, तथा उपसंहार) ईश्वरवादी वस्तु को आदि-अंत मानते हैं।

ब—संख्या दो प्रकार की होती है (१) मर्यादित (२) अमर्यादित। दोनों संख्याओं को भगवान जैसा हो वैसा जानते हैं, संख्या कहने में मात्र मर्यादितपना आ जावे, ऐसी बात नहीं है। इस विषय में त्रिलोकसार गाथा ६९ में निम्नप्रकार कहते हैं:—

त्रिलोकसार गाथा ६९, पृष्ठ ३२

तिविह जहण्णाणंतं वग्गसलादल छिदी सगादिपदं।
जीवो पोग्गल कालो सेढीआगास तप्पदरं॥६९॥

त्रिविधं जघन्यानंतं वर्गशलादलच्छेदाः स्वकादिपदम्।
जीवः पुद्गलः कालः श्रेण्याकाशं तत्प्रतरम् ॥६९॥

अर्थः—इससे असंख्यात स्थान जाकर जघन्य परीतानंत का वर्ग-शलाका राशि उपजते हैं, इससे असंख्यात स्थान जाकर उसका अद्धच्छेद राशि उपजते हैं, इससे असंख्यात स्थान जाकर उसका प्रथम मूल उपजते हैं। उसका एक बार वर्ग हुवे जघन्य परीतानंत होता है, इसलिये असंख्यात स्थान जाकर जघन्य युक्तानंत उपजते हैं, जिससे देयराशि के ऊपर विरलन राशि के अर्द्धच्छेद प्रमाण वर्गस्थान हुवे विवक्षित राशि होती है, इसलिये यहाँ देयराशि जघन्यपरीतानंत है, उसके ऊपर विरलन राशि जघन्य परीतानंत, उसके अर्द्धच्छेद असंख्यात हैं, इसलिये इतने ही वर्गस्थान हुवे जघन्य युक्तानंत होते हैं। यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार वर्ग शलादिक का निषेध जानना और इस जघन्य युक्तानंत काा एक बार वर्ग हुवे जघन्य अनंतानंत होते हैं, और इससे अनंत स्थान जाकर जीवराशि प्रमाण की वर्गशलाका होते हैं, इससे अनंत स्थान जाकर उसी के अर्द्धच्छेद होते हैं, इससे अनंत स्थान जाकर उसी का प्रथम मूल होते हैं, **उसका एक बार वर्ग हुए जीवराशि का प्रमाण उपजते हैं।** इस गाथा विषय वर्गशलाकादिकनिका उपलक्षण कर कथन है, इससे उस जीवराशि से पर पुद्गलादिक जो-जो राशि कहते हैं, उनका जीवराशि विषय जैसे कहा **वैसे वर्गशलाकादि जानना और इस जीवराशि से अनंत स्थान जाकर पुद्गलराशि का प्रमाण उपजते हैं।**

क—'अनादि-अनंत' काल सूचक है, **संख्या सूचक नहीं है** [इसके अर्थ के लिये देखिये श्री प्रवचनसार गाथा ९८ की टीका तथा श्री गोमट्टसार जीवकांड गाथा ५८१ के भावार्थ में पृष्ठ २७६, २७७ श्री रायचंद जैन शास्त्रमाला प्रकाशित है, यह गाथा उपसंहार में दी गई है। संख्या के संबंध में विशेष वर्गन उपसंहार में किया गया है]।

डी-श्रुतज्ञान और केवलज्ञान के स्वरूप में विषय में श्री समयसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री प्रवचनसार, श्री नियमसार, श्री आप्तमीमांसा, श्री गोमट्टसार के आधार ऊपर देने में आये हैं। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु का स्वरूप (अर्थसमय) श्रुतज्ञान और केवलज्ञान (ज्ञानसमय) आगम (शब्दसमय) सब एक जैसा ही होता है। श्रुतज्ञान, केवलज्ञान अनुसार ही है।

(क्रमशः)

सोनगढ़ समाचार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे प्रवचनसारजी शास्त्र गाथा १७३ तथा दोपहर में श्री समयसारजी शास्त्र गाथा १९२ चलती है।

धर्म प्रभावना समाचार

गुना (म.प्र.) तारीख २८-९-६३ का पत्र है—

श्री बाबूभाई फतेपुर-गुजरात निवासी हमारा आमंत्रण स्वीकार कर यहाँ पधारे और जन साधारण को अपनी कल्याणकारी, निर्भीकतापूर्ण विशालबुद्धि से अलौकिकयुक्ति एवं सत् शास्त्रों के आधार से धर्म का स्वरूप समझाया कि प्रथम क्या करना '**प्रथम तत्त्वनिर्णय करना**' इस पर आपने अपनी कुशल प्रभावक विशाल ज्ञान के द्वारा ४ दिवस एकाग्र मन से प्रवचन कर वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझाया, जिससे मानव अपनी निज शक्ति की पहिचान कर सके, उसी मंगल कामना हेतु यहाँ की दिगम्बर जैन समाज ने उनका आभार प्रदर्शित करते हुये अभिनंदन पत्र भेंट किया।

भवदीय—केवलचंद पांड्या

उज्जैन (म.प्र.)— से (श्री जगतदयाल अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर का) पत्र है कि—अध्यात्मप्रेमी पंडित श्री बाबूभाई महेता जबलपुर-भोपाल होते हुए इन्दौर पधारे थे, तब यहाँ के मंडल ने प्रार्थना की तो स्वीकृति प्रदान कर तारीख २०-९-६३ को पधारे थे। तीन दिन का कार्यक्रम नमकमंडी दिगम्बर जैन मंदिर एवं स्वाध्यायमंदिर में निम्नप्रकार रहा—

प्रात:काल	७ से ८	सामूहिक पूजन,
प्रात:काल	८ से ९	मोक्षमार्गप्रकाशक नवमें अध्याय पर प्रवचन
रात्रि	७ से ८	जिनमंदिर में भक्ति
रात्रि	८ से ९	समयसारजी पुण्य-पाप अधिकार पर प्रवचन (स्थल-नमक मंडी)
दोपहर	३ से ४	मोक्षमार्ग प्रकाशक पर प्रवचन
दोपहर	४ से ५	तत्त्वचर्चा, शंका-समाधान, स्वाध्यायमंदिर, ठि. क्षीरसागर

प्रत्येक कार्यक्रम में समाज के आबाल वृद्धों ने बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित होकर अपूर्व उल्लास भाव प्रगट किया। आपके प्रवचन अत्यंत सारगर्भित, सरल, सुगम और रोचक होने से श्रोता आनंद विभोर हो उठे। प्रवचन स्थल एवं भक्ति का स्थान दर्शकों से ठसाठस भर जाता था,

इसलिये जिज्ञासु समय से आधा घंटा पूर्व उपस्थित हो जाते थे। इस अवसर पर तारीख २२-९-६३ को जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा जुलूस भी निकाला गया। उसमें श्री बाबूभाई तथा चन्दुभाई के भक्तिपूर्ण स्तवन-भजनों का श्रवण करके और गजब के उत्साह देखकर जन समुदाय हर्षान्वित हो उठा। रास्ते में दर्शकों के झुंड इन दृश्यों को देखकर अपूर्व उल्लासित हावे रहे थे। तारीख २३-९-६३ को दिगम्बर जैन समाज एवं मुमुक्षु मंडल की ओर से श्री बाबूभाई को अभिनंदन-पत्र समर्पित किया गया। उस प्रसंग पर सभी गद्‌गद् हो उठे थे। ऐसा धन्य प्रसंग पुनः पुनः आवे ऐसी सबकी मनोकामना थी।

अशोकनगर (म.प्र.)—से पत्र यहाँ प्रथम आसोज शुक्ला १० को जिनमंदिर में नवीन वेदी स्थापन शिलारोपण समारोह के उत्सव पर श्री बाबूभाई पधारे थे। प्रवचन के लिये विशाल पंडाल बनाये थे, श्री जिनेन्द्र भगवान को उसमें विराजमान किया गया था, श्री बाबूभाई के साथ प्रातः करीब १०० पुजारियों के द्वारा सामूहिक पूजन इतनी भावपूर्ण और आकर्षक होती थी कि जैसी आज तक यहाँ कभी भी नहीं हुई। संध्या को सामूहिक श्री जिनेन्द्र भक्ति होती थी, जिसमें श्री बाबूभाई व उनके साथी श्री चन्दुभाई तल्लीन हो जाते थे। आपके धर्मामृतमय स्पष्ट उपदेश से जैन व अजैन जनता अत्यंत प्रभावित हुई व श्री गंज मंदिरजी में एक विशाल हाल निर्माण होने व वेदी स्थापन करने को सामूहिक रूप में करीब बीस हजार का दान लिखा गया, श्री बाबूभाई तथा श्री चन्दुभाई ने भी अच्छी रकम लिखाई।

आपके सन्मानार्थ यहाँ की जैन समाज ने आसोज शुक्ल १३ आम सभा में माननीय श्री शशी सरबरजी सा० शर्मा एम. कॉम. एल.एल.बी की अध्यक्षता में श्रद्धेय श्री बाबूभाई की सेवा में सन्मान-पत्र सादर समर्पित किया गया। यहाँ से १२५ यात्रियों को साथ लेकर श्री बाबूभाई अतिशय क्षेत्र थुबोनजी, चंदेरी गये। वहाँ मुंगावली में भी आपके प्रवचन द्वारा बहुत ही धर्म प्रभावना व जागृति हुई। *लि.-गेंदालाल बज*

दूसरा पत्र—गुना-दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंडल की ओर से श्री अमोलकचंदजी का विस्तार से आया है। संक्षेप में 'पूज्य श्री स्वामीजी का हम अज्ञानी जीवों पर बहुत बड़ा उपकार है। जिन्होंने कि जिनवाणी का रहस्य प्रगटकर-भेदविज्ञान का मार्ग स्पष्ट किया है। उनकी ज्ञानमयवाणी से पके हुये श्रद्धेय श्री बाबूभाई हमारे सौभाग्य से यहाँ पधारे। सामूहिक पूजन, पश्चात् प्रवचन, शाम को जिनेन्द्र भक्ति, रात्रि को प्रवचन चलते थे।'

विशेष बात—जैन समाज का विचार तीन वेदी व सामने स्वाध्याय भवन का निर्माण कराने का था, यह कार्य छह वर्ष से विवादपूर्ण वातावरण से सम्पन्न नहीं हो पा रहा था, लेकिन 'श्री बाबूभाईजी के आते ही इस कार्य का होना' इसे समाज ने शुभागमन को एक शुभ निमित्त के रूप में आदर किया।

श्री बाबूभाई अपने प्रवचन में निश्चय-व्यवहार; उपादान-निमित्त; पुरुषार्थ-काललब्धि; भवितव्यता आदि; पुण्य-पाप और धर्म का बहुत ही खुलासा किया, जिससे समाज बहुत ही प्रभावित हुई। उनके प्रवचनों का लाभ लगभग तीन चार हजार जनता ने लिया। यहाँ की सामान्य जनता पर जिनेन्द्रभक्ति जिसमें कि वह डूबकर नृत्य भी करते थे और उनके यथारूप (बाह्य) चारित्र का काफी प्रभाव पड़ा, उनकी विशेषता आगमोक्त वक्ता के गुण सहित, उनके ज्ञान, भाषण की शैली, दृष्टांत और सिद्धांत का बिल्कुल यथारूप मिलान, जिनेन्द्रभक्ति और उनका चारित्र आज भी चर्चा का विषय, सन्मान का विषय है।

श्री बाबूभाई द्वारा समाज को काफी ज्ञान मिला और बहुत सी शंकायें तथा भ्रमणायें दूर हुईं। श्री बाबूभाई के उपदेश से प्रभावित हो तारीख ७-१०-६३ से प्रातःकाल की जैन शिक्षण कक्षा प्रारम्भ की है। जिसमें १०० से १२५ के दरम्यान स्त्री-पुरुष आते हैं। इनमें जैन सिद्धांत प्रवेशिका आदि की पढ़ाई श्री पंडित हुकमचंदजी के द्वारा होती है।

अपनी तैयारी बिना स्वाधीनता (मोक्ष सुख) कैसे प्राप्त हो ?

भाईयों ! भगवान की भवछेदक दिव्य-ध्वनि अपनी तैयारी बिना निमित्त कैसे कहलावे ! जो अनंत भवों का दु:ख मिटावे, ऐसी समझ के लिये उत्तम अवसर इस मनुष्य भव में मिला है। बार-बार ऐसा अवसर प्राप्त नहीं होता। तो फिर पर का कर्तृत्व ममत्व छोड़कर ज्ञायकस्वभाव के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण का प्रयत्न कर कि जिससे देहरहित दशा की (निज परमात्मपद की) प्राप्ति हो जावे।

राग-द्वेष अज्ञानरहित अपना त्रिकाली निर्दोष सत्स्वरूप है, उसे ही स्वानुभव से समझना है। उसी में स्थिर होना है, उसके अलावा अन्य कुछ नहीं चाहिये, ऐसा निर्णय सत्स्वरूप के लक्ष से करके, पूर्व की मान्यता को सच्ची समझ के द्वारा छोड़कर निर्दोष स्वरूप तुझे सत्समागम से ग्रहण करना चाहिये। तेरी तैयारी बिना, अंतरंग अपूर्व झंखना के बिना क्या होवे ?

(समयसार प्रवचन, भाग १ में से)

कौन किसे समता करे, सेवे पूजे कौन,
किसकी स्पर्शास्पर्शता, ठगे कौन को कौन;
कौन किसे मैत्री करे, किसके साथ कलेश।
जहँ देखूँ वहाँ सर्व जिय, शुद्ध, बुद्ध ज्ञानेश॥४०॥

पूज्य स्वामीजी का विहार समाचार

पूज्य श्री कानजी स्वामी दिगम्बर जैन

तीर्थयात्रा संघ

श्री गोमटेश्वर बाहुबलि तथा पोन्नूर तीर्थयात्रा का कार्यक्रम

क्रमांक	स्थान	मील	पहुँचने की तारीख	कितने दिन
	सोनगढ़ से मंगल प्रस्थान माघ बद ६, रविवार, तारीख ५-१-६४			
१	अहमदाबाद	१२१	माघ बद ६, रविवार ५-१-६४	१
२	पालेज	१०१	'' ''७-८ ६/७-१-६४	२
३	वलसाड	१०४	'' ''९ ८-१-६४	१
४	भीवंडी	११०	'' ''१० ९-१-६४	१
५	पूना	९९	'' ''११ १०-१-६४	१
६	सतारा	६९	'' ''१२ ११-१-६४	१
७	कोल्हापुर	७८	'' ''१३ १२-१-६४	१
८	बेलगांव	६४	'' ''१४ १३-१-६४	१
९	हुबली	५९	'' ''३० १४-१-६४	१
१०	हरिहर	६०	'' सुद १ १५-१-६४	१
११	हुमचा	७४	'' ''२ १६-१-६४	१
१२	कुन्दाद्रि (कुंदगिरी)	३३	'' ''३ १७-१-६४ (प्रातःकाल)	१
१३	मूलबद्री	५३	'' ''४/५ १८/१९-१-६४ (तीर्थयात्रा)	२
१४	हासन	१०६	'' ''६ २०-१-६४	१
१५	श्रवणबेलगोला	३२	'' ''७/८ २१/२२-१-६४ मंगल, बुध	२
१६	मैसूर	६२	'' ''९ २३-१-६४	१
१७	बेंगलोर	८७	'' ''१० २४-१-६४	१
१८	राणीपठ	१३७	'' ''११ २५-१-६४	१
१९	वंदेवास (पोन्नूर)	४०	'' ''१२/१४ २६/२७-१-६४	२

सूचना

(१) श्रवणबेलगोला तथा वंदेवास संघ (यात्री) अगले दिन शाम को पहुँचेंगे।

(२) यात्री संघ तारीख १०-१-६४ सवेरे बम्बई से रवाना होंगे और उसी दिन पूना पहुँचेंगे और पूना से पूज्य कानजी स्वामी के साथ यात्रा शुरु होगी और पोन्नूर (वंदेवास) तक संघ इकट्ठे रहेंगे।

(३) यात्री संघ में सम्मिलित होनेवाले मोटर बस के यात्री तथा प्राइवेट मोटर में यात्रा करना हो वे भी तारीख ३०-११-६३ के पूर्व विनंति पत्र सोनगढ़ भेज देवें।

(४) विनंति-पत्र सोनगढ़ से व प्राय: हरेक गाँव के मुमुक्षु मंडल से मिल सकेंगे।

(५) बम्बई से पोन्नूर और पोन्नूर से बम्बई के माइलेज करीब दो हजार मील तथा समय २१ दिन होगा।

(६) बम्बई से पोन्नूर तथा पोन्नूर से बम्बई तक मोटर बस का किराया तथा व्यवस्था खर्च का १२०) एक सौ बीस रुपये लिया जायेगा।

(७) प्राइवेट मोटर कार के यात्रियों से प्रत्येक व्यक्ति का व्यवस्था खर्च रुपयो पन्द्रह १५) लिया जायेगा।

(८) तीन वर्ष से १० वर्ष तक की उम्र के बालकों के लिये प्रत्येक व्यक्ति का बस किरया तथा व्यवस्था खर्च ७५) रुपये लिया जायेगा और उसे सीट दिया जायेगा।

(९) यदि समूह भोजन में जीमनेवालों की संख्या कम से कम तीन सौ होगी तो व्यवस्था यात्री संघ की ओर से भोजन की व्यवस्था करने में आयेगी और उसका चार्ज दो समय भोजन सवेरे चाय मिलकर रुपये २.५० तथा किसी को एक ही बार जीमना हो तो १.५० लिया जायेगा। तीन से दस वर्ष की उम्रवालों को भोजन चार्ज दो बार का १.७५ तथा सिर्फ एक बार का १.० लिया जायेगा। यात्रा संघ की बस के यात्रियों को विनंति पत्र के साथ एक व्यक्ति का ५०) डिपाजिट बस किराये में भेजना होगा।

पत्र व्यवहार का पता—

पूज्य श्री कानजी स्वामी दिगम्बर जैन तीर्थयात्रा संघ

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

समयसार शास्त्रजी

परमागम श्री समयसारजी शास्त्र जो अत्यंत अप्रतिबुद्ध अज्ञानियों के लिये भी समझानेवाला शास्त्र है। जिसमें चारों अनुयोगों की बात आ जाती है। यह ग्रंथ पहले दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल बंबई द्वारा १५०० छपवाया गया था जो कि १ मास में ही सारा बिक गया एवं फिर भी अत्यधिक माँग होने से श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ की ओर से तृतीयावृत्ति छपने का काम शुरु हो गया है। सो शीघ्र ही पूर्ण होकर जिज्ञासुओं की सेवा में प्रस्तुत किया जावेगा। —प्रकाशक

अज्ञानी का व्यवहार अर्थात् असत्य श्रद्धानरूप मिथ्या प्रतिभास

परमार्थ से (वास्तव में जीव-पुद्गल देहादिक) की प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी, जब तक भेदज्ञान न हो, तब तक संयोग में एकत्व की दृष्टिवालों को बाहर से उनकी (जीव और देहादिक की) प्रवृत्ति एक सी दिखाई देती है। अज्ञानी को जीव-पुद्गल का भेदज्ञान नहीं होता; इसलिये वह ऊपरी दृष्टि से जैसा दिखाई देता है, वैसा मान लेता है; इसलिये वह यह मानता है कि जीव, पुद्गल कर्म को कर्ता-भोक्ता है। श्रीगुरु भेदज्ञान कराकर, परमार्थ जीव का स्वरूप बताकर, अज्ञानी के उस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं।

(समयसार गाथा ८४ का भावार्थ)

दो द्रव्य की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया को चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया को जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियायें करता हुआ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और वह द्विक्रियावादी जिनेन्द्र भगवान के मत से बाहर है।

(समयसार गाथा ८५ का भावार्थ)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	जैन बाल पोथी	०-२५
प्रवचनसार	प्रेस में	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
नियमसार	५-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
पंचास्तिकाय	४-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तीसरी आवृत्ति)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
द्वितीय भाग	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
तृतीय भाग	०-६०	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन		जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
बृ० पूजा भाषा	०-७५		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।